तुलसी प्रज्ञा

ain Vishva-bharati Institute Research Journal

अनुसंधान-त्रैमासिकी

पूर्णाङ्क-९१

Jain Vishva-bharati Institute, Ladnun-341306

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं-३४१३०६
(मान्य विश्वविद्यालय)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसी प्रज्ञा
TULSI PRAJÑĀ
पूर्णाङ्क-९१

अनुसंधान–त्रैमासिकी
Research Quarterly

JAIN VISHVA-BHARATI INSTITUTE RESEARCH JOURNAL

Jain Vishva-bharati Institute, (Deemed University),
Ladnun—341 306 (Raj.) INDIA

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल्य : बीस रुपये

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers. It is not necessary that the institute agree with them.

Editorial enquiries may be addressed to : The Editor, Tulsi Prajñā, JVBI Research Journal, Ladnun-341 306.

Published by Parmeshwar Solanki for Jain Vishva-bharati Institute, Deemed University, Ladnun-341 306 and printed by him at Jain Vishva-bharati Press, Ladnun—341 306. Published on 31.1.95

Editor

Dr. Parmeshwar Solanki

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका/Contents

१. सम्पादकीय

२. जैनधर्म में रथयात्रा महोत्सव १५३
सोहनकृष्ण पुरोहित

३. रामस्नेही सन्त रामचरणजी पर भीखणजी का प्रभाव १५७
लोकेश्वर प्रसाद शर्मा

४. जैन दर्शन का अपरिग्रहवाद : आज की आवश्यकता १६५
कुमुदनाथ झा

५. कुन्दकुन्द के दर्शन में उपयोग की अवधारणा १७१
राजवीर सिंह शेखावत

६. तेरापन्थ में प्राकृत-साहित्य का उद्भव और विकास १७७
मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'

७. श्रुत-परम्परा १९३
मुनिश्री कामकुमार नन्दी

८. ध्यान-द्वात्रिंशिका—एक परिचय १९७
समणी चैतन्यप्रज्ञा

९. मार्कण्डेय पुराण में देवी शक्ति का स्वरूप २०३
श्रीमती मुन्नी जोशी

१०. क्या अकाल मृत्यु सम्भव है ? २०९
अनिल कुमार जैन

११. श्रीमद्भागवतीय आख्यानों का विवेचन २१७
हरिशंकर पांडेय

१२. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और शांतिशोध २२५
बच्छराज दूगड़

१३. प्रेक्षाध्यान की वैज्ञानिकता २३१
समणी स्थितप्रज्ञा

१४. स्तुति के तत्त्व २३७
साध्वी संचितयशा

१५. साहित्य-सत्कार एवं पुस्तक-समीक्षा २४३
परमेश्वर सोलंकी

English Section

16. Vegetarian Diet—Scientific Views 69
Suresh Jain

17. **A Study in Science of Living**
Temperature Biofeedback : An Experimental Review and Research 77
J. P. N Mishra & B. K. Chhajer

18. Dharma Kathās in Pali and Prakrit 87
G. V. Tagare

19. Members of Syllogism 91
Bamadev Senapaty

20. Book Review 97
Parmeshwar Solanki

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखक | Contributors

१. डॉ० सोहनकृष्ण पुरोहित—	बननाथ मन्दिर पीछे, सुखानन्द की बगीची नई चांदपोल रोड, जोधपुर (राज०)
२. डॉ० लोकेश्वर शर्मा—	द्वारा/डॉ० डी० सी० चौहान, ३०, ए-गोल्फ लिंक रोड, अरविन्दनगर, वायुसेना, जोधपुर-३४२००१
३. डॉ० कुमुदनाथ झा—	रामनगर, पो०-चन्दवा, आरा, जिला-भोजपुर, पिन-८०२३१२
४. श्री राजवीर सिंह शेखावत—	१२, प्रतापनगर, शास्त्री नगर, जयपुर-१६
५. मुनिश्री गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'	
६. मुनिश्री कामकुमार नन्दी—	द्वारा/नेम भवन, ७ प्रेमपुरी, मुज़फरनगर-२५१००२
७. समणी चैतन्यप्रज्ञाजी—	व्याख्याता, जैन विद्या विभाग, जैन विश्व-भारती संस्थान, लाडनूं
८. डॉ० श्रीमती मुन्नी जोशी—	द्वारा/श्री अखिल जोशी, कुमायुं विश्वविद्यालय परीक्षा अनुभाग, मल्लीताल, नैनीताल
९. डॉ० अनिल कुमार जैन—	सीनियर डिप्टी डाइरेक्टर, आई. आर. एस. ओ० एन० जी० सी०, चंदनखेड़ा, अहमदाबाद-२
१०. डॉ० हरिशंकर पांडेय—	व्याख्याता, प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं
११. डॉ० बच्छराज दूगड़—	प्रभारी, अहिंसा एवं शांतिशोध विभाग जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं
१२. समणी स्थितप्रज्ञाजी—	व्याख्याता, जीवन विज्ञान विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं
१३. साध्वी संचितयशाजी—	
१४. डॉ० परमेश्वर सोलंकी—	सम्पादक—तुलसीप्रज्ञा, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं
15. Dr. Suresh Jain—	26, Samyak, Mansarovar, Vaishali Nagar, Ajmer-305006
16. Dr. J. P. N. Mishra—	Asstt. Prof. J. V. B. I. Deemed University, Ladnun
17. Dr. B. K. Chhajer—	Asstt. Professor, A. I. I. M. S., New Delhi
18. Dr. G. V. Tagare—	3, Govt. Colony, Sangli-416415
19. Bamadev Senapaty—	Deptt. of Sanskrit, Utkal University Bhubaneswar-4

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाप्रज्ञ हो, महाप्रज्ञ जैसा

मनुष्य जो नहीं है, वैसा होने का भ्रम पालता है या अभिनय करता है। वह अपनी मौलिकता को खूंटी पर टांग देता है और नए-नए मुखौटे पहनकर समाज में प्रतिष्ठित होना चाहता है। यह एक प्रकार की मृगतृष्णा है। अपने बारे में प्रशंसा के दो बोल सुनकर मनुष्य सोचता है कि वह बहुत बड़ा आदमी बन गया है। किसी दूसरे के बटखरों से स्वयं को तोलना अपनी निजता को भूलना है। कुछ लोगों का अभिमत है कि आज मौलिकता केवल मिथ बन कर रह गयी है, किन्तु यह कथन भी एकांगी है। कोई भी कालखण्ड ऐसा नहीं होता, जब मनुष्य की मौलिकता को उससे छीना जाता हो। उसकी स्वयं के प्रति अप्रतिबद्धता ही उसे दूसरे जैसा होने की दिशा में अग्रसर करती है।

महाप्रज्ञ के चिन्तन और साहित्य से जो लोग परिचित हैं, वे इनके बारे में अनेक प्रकार की कल्पनाएं करते हैं। कुछ लोग कहते हैं—महाप्रज्ञजी दूसरे **विवेकानन्द** हैं। कुछ व्यक्ति इनकी दार्शनिक गम्भीरता देखकर सर्वपल्ली **डा० राधाकृष्णन्** के साथ इनकी तुलना करते हैं। विवेकानन्द और राधाकृष्णन् भारत की महान् विभूतियां हुई हैं। उनके प्रति हमारे मन में आदर के भाव हैं, किन्तु तुलना के प्रसंग में मेरा यह चिन्तन है कि महाप्रज्ञ को न विवेकानन्द बनना है और न राधाकृष्णन्। **महाप्रज्ञ** कैसा ? **महाप्रज्ञ जैसा**। इस अवधारणा में मुझे संतोष मिलता है। दो हाथों और दस अंगुलियों पर विश्वास करने वाला व्यक्ति किसी की अनुकृति क्यों बनें ? उसे अपने ढंग से अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिए। इसलिए महाप्रज्ञ को महाप्रज्ञ ही बने रहना है।

—गणाधिपति तुलसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्पनिवेदणं

नाहिंति लोगा किमियं ति नच्चा,
कज्जं सुकज्जं पि न तं करोसि ।
परस्स दिट्ठीय निरिक्खमाणो,
अप्पाणमेवं परतंतिओ सि ॥

यदि मैं यह करूंगा तो लोग क्या कहेंगे ? ऐसा सोच कर तुम कार्य-सुकार्य भी नहीं करते । तो क्या तुम दूसरे की दृष्टि से देखे जाते हुए परतन्त्र नहीं बन गये ?

एएण सिद्धंतविणिच्छएण,
अणेगवारं जडिला ठिईवि ।
उज्जूकया णेव मणं विसण्णं,
अत्थित्तमेवापि सुरक्खियं च ॥

अनेकों बार जटिल परिस्थितियों में इसी आत्म-चिन्तन से मैं स्वस्थ रहा हूं । इस प्रक्रिया से मेरा मन कभी विषण्ण नहीं हुआ और मैंने सदैव अपने अस्तित्व की सुरक्षा की ।

परस्स तोलामि अहं तुलाए,
माणेण अन्नस्स नियं मिणामि ।
पासामि दिट्ठीई परस्स चे हं,
तो अत्थिभावो पि ण अप्पणोत्थि ॥

(क्योंकि) मैं दूसरों की तुला से तोला जाऊं, दूसरों के माप से मापा जाऊं और दूसरों की दृष्टि से देखा जाऊं ? यह स्वयं अपने अस्तित्व को नकारने जैसा है ।

जेणत्थि दिण्णा पवरा सुदिट्ठी,
तेणत्थि मग्गो पवरोत्थ पत्तो ।
सुरक्खिआ तेण कयण्णया य,
पइट्ठिओ मे तुलसी तओत्थि ॥

(इसलिये) जिसने मुझे सुदृष्टि दी, उसी ने मुझे सही मार्ग दिखाया ।
मेरे हृदय में आचार्य तुलसी प्रतिष्ठित हैं और मेरी कृतज्ञता भी सुरक्षित है ।

—आचार्य महाप्रज्ञ
(सं० २०१९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरापंथ महासंघ के दसवें आचार्य श्री महाप्रज्ञ का आचार्य-पदारोहण

अवाप्य चाचार्यपदं विशिष्टं शिष्यो विनम्रः स्वगुरूं प्रति स्यात् ।
काले कलौ दुर्लभमेतदस्ति निदर्शनं नाम समस्तलोके ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म में रथयात्रा महोत्सव

सोहन कृष्ण पुरोहित

जैन समाज में तीर्थङ्करों की प्रतिमा के रथ यात्रा उत्सव को मनाने की परम्परा प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। जैन ग्रन्थ-परिशिष्ट पर्व तथा बृहत्कल्प सूत्र में रथयात्रा के संदर्भ मिलते हैं। एक बार उज्जयिनी में जीवन्त स्वामी की रथयात्रा के दौरान राजा सम्प्रति और आचार्य सुहस्ती की मुलाकात हुई।[1] बाद में आचार्य सुहस्ती की प्रेरणा से सम्प्रति ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया और उसने सैकड़ों जिनालयों का निर्माण करवाया।

जैन धर्म में सम्यग्दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग प्रभावना है। जिसका तात्पर्य जिन धर्म के महत्त्व को प्रकट करना है। लोगों की धर्म के विषय में जानकारी बढ़ने पर वे उसकी ओर तीव्रता से प्रवृत होते हैं। तीर्थंकरों की रथयात्रा को इस प्रभावना का ही एक रूप माना जा सकता है। जैन धर्मावलम्बी पंच कल्याणक दिवस के अवसर पर तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की रथयात्रा उत्साहपूर्वक निकालते हैं। पंचकल्याणक दिवस इस प्रकार है :—तीर्थंकर के गर्भ में आने का संकेत दिवस, तीर्थंकर का जन्म दिवस, दीक्षा दिवस, कैवल्य ज्ञान प्राप्ति दिवस और निर्वाण प्राप्ति दिवस।[2]

प्राचीन अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रंथों में तीर्थंकर प्रतिमा की रथयात्रा निकालने के अनेक संदर्भ विद्यमान हैं। कलिंगराज खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से संकेतित है कि राजा नन्द कलिंग से जिन प्रतिमा पाटलिपुत्र ले गया था जिसे वह वापिस अपने राज्य में ले आया।[3] कुछ चित्र भी देखने को मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि खारवेल ने जिन प्रतिमा की वापसी पर उसका शानदार जुलूस निकाला।

सोमदेव रचित यशस्तिलक चम्पू के अनुसार मथुरा में अष्टाह्निका पर्व के अवसर पर रथयात्रा निकालने की प्राचीन परम्परा थी।[4] तीर्थंकरों की रथयात्रा निकालने की परम्परा मालवा के जैन समाज में भी प्रचलित रही। वहां जगत् स्वामी की विभिन्न अवसरों पर रथयात्रा निकाली जाती थी।[5]

राजस्थान और उसके पड़ोसी राज्य गुजरात में जैन समाज रथयात्रा उत्सव प्राचीनकाल से ही मनाता रहा है। इस क्षेत्र में रथयात्रा को गुर्जरी यात्रा कहकर पुकारा जाता था।[6] लालराई लेख (११७६ ई०) में देवयात्रा उत्सव में शांतिनाथ को चौहान कीतू और उसकी पत्नी द्वारा जो अर्पण करने का उल्लेख मिलता है।[7] गुजरात में शांतिनाथ की रथयात्रा के कई आभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार कुमारपाल चालुक्य अष्टाह्निका महोत्सव का आयोजन धूमधाम से करता था।[8] पाटन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रसिद्ध कुमार-विहार में चैत्र और आश्विन माह के शुक्ल पक्ष के अन्तिम सप्ताह में यह उत्सव मनाया जाता। इस उत्सव के अन्तिम दिन सन्ध्या समय हाथियों द्वारा खींचे जाने वाले विशाल रथ में पार्श्वनाथ की सवारी निकाली जाती, जो नगर में होती हुई राजप्रासाद तक जाती थी। सवारी उत्सव में राजा के उच्च-अधिकारी, तथा प्रमुख नागरिकों सहित साधारण जनता भाग लेती थी। इस रथयात्रा उत्सव में चारों ओर जनसमूह नृत्य और गायन करते हुए साथ-साथ चलता था। अत्यन्त हर्षोल्लास के वातावरण में राजा स्वयं जाकर जिन-प्रतिमा की पूजा करता था। पार्श्वनाथ प्रतिमा को उत्सव के दूसरे दिन राज प्रासाद से वापस विशाल मैदान में लाया जाता। रथ-यात्रा के दूसरे दिन भी राजा स्वयं उपस्थित होकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा की पूजा अर्चना करता। इसके पश्चात् रथयात्रा नगर के प्रमुख मार्गों से होता हुआ पुनः अपने मूल स्थान पर ले जाया जाता। राजा स्वयं रथयात्रा उत्सव में व्यक्तिगत रूप से भाग लेता और अपने सामन्तों को भी इस उत्सव को समारोहपूर्वक मनाने का आदेश देता। ब्हूलर महोदय का विचार है कि रथयात्रा उत्सव के दौरान कई बार समाज में तनाव भी उत्पन्न हो जाया करता। गुजरात के शासक रथयात्रा की स्वीकृति बड़ी कठिनाई से देते।[9] किन्तु डॉ० सत्य प्रकाश इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि कुमार पाल चौलुक्य ने रथयात्रा उत्सव को कोई पहली बार प्रारम्भ नहीं किया था। यह परम्परा तो कुमारपाल के पूर्वजों के समय से ही विद्यमान थी।[10]

राजस्थान में 'जिन' प्रतिमा की रथयात्रा के आभिलेखीय और साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि रथयात्रा उत्सव में तीर्थंकर की प्रतिमा को विशाल एवं ऊंचे रथ पर स्थापित कर उसकी शोभायात्रा निकाली जाती। इसमें लोग गीत गाते हुए एवं नृत्य करते हुए भाग लेते थे। इस समारोह हेतु धन की व्यवस्था राजा और प्रजा दोनों मिलकर करते थे। ओसियां के ११८८ ई० के लेख के अनुसार देवचन्द्र की पुत्रवधु तथा यशोधर की पत्नी एवं पाल्हिया की पुत्री सम्पूर्ण श्राविका ने महावीर के रथ को रखने हेतु अपना निजि भवन दान दे दिया।[11] कक्क-सूरी (१३३८ ई०) के 'नाभिनन्दन जिनोद्धार' नामक ग्रन्थ के अनुसार ओसियां में प्रतिवर्ष नर्दम नाम का स्वर्णरथ नगर में होकर एक बार निकाला जाता था।[12] चौहान राजा जोज्जलदेव के नाडोल एवं सादड़ी अभिलेखों[13] (११४७ वि० सं०) से ज्ञात होता है कि उन दिनों लक्ष्मण स्वामी मन्दिर में यात्रा उत्सव मनाया जाता था। राजा ने इस यात्रा उत्सव पर आज्ञा प्रसारित की कि जब किसी सम्प्रदाय विशेष का यात्रा उत्सव हो तो उसमें अन्य मन्दिरों के गायक, कर्मचारी, शूलधारी (शूलपाल) आदि नये वस्त्र पहनकर एवं आभूषण धारण कर उसमें भाग लें। चाहे वे उस सम्प्रदाय विशेष में श्रद्धा न रखते हों। इसी अभिलेख में महाराज जोज्जलदेव ने अपने वंशजों को भी आदेश दिया कि वे उपर्युक्त परम्परा का भविष्य में भी पालन करते रहें। अभिलेख का प्रशस्तिकार लिखता है कि साधु, वृद्ध और विद्वान् भी इस यात्रा परम्परा के पालन में योगदान करें। यदि कोई व्यक्ति इस परम्परा का उलंघन करता है तो शासक का कर्तव्य होगा कि वह उसे रोके। आदिनाथ मन्दिर नाडलाई अभिलेख (११४३ ई.)[14] के अनुसार जब महाराजाधिराज श्री रायपाल यहां रथयात्रा उत्सव में भाग लेने आए तब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रावल राजदेव ने अपनी माता के धर्म (पुण्य) निमित्त एक विंशोपक एवं दो पल्लिका तैल प्रदान किया। उन्होंने शासन की इस परम्परा को तोड़ने वाले को स्त्री हत्या और भ्रूण हत्या के पाप का दोषी बतलाया। उपर्युक्त दान की घोषणा महाजन सभा के सम्मुख की गई। सिरोही शिवगंज मार्ग पर स्थित वागसीण ग्राम के शांतिनाथ मंदिर लेख (वि० सं० १३५९) से भी रथयात्रा परम्परा की जानकारी मिलती है। विवेच्य अभिलेख से संकेतित है कि शांतिनाथ मन्दिर के यात्रा उत्सव हेतु (शांतिनाथ देवस्य यात्रा महोत्सव निमित्त) सोलंकियों ने सामूहिक रूप से खेत एवं ग्राम अर्पण किए तथा मन्दिर हेतु प्रति अरहट कुछ अनुदान की व्यवस्था की।[१५] जैन धर्मावलम्बियों द्वारा रथयात्रा निकालने की परम्परा बाद में भी जारी रही। धूलेव के पुरालेखों के अनुसार अर्हत् की प्रतिमा का जुलूस निकाला जाता था। रथयात्रा में जो लोग भाग लेते उनके वस्त्रों तथा आभूषणों पर जो धन खर्च किया जाता उसका पूरा लेखा-जोखा रखा जाता था।[१६]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन धर्म में रथयात्रा उत्सव की परम्परा प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही है। रथयात्रा उत्सव से समाज में सौहार्द एवं धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण उत्पन्न हो जाया करता, जिससे शासकों को प्रशासन का संचालन करने में सुविधा होती थी। शासक प्रजा से सम्पर्क बनाए रखने हेतु स्वयं भी इस यात्रा उत्सव में सम्मिलित होते थे। डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार, "यात्रा उत्सव हिन्दू एवं जैन दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से मनाया जाता था। यह उत्सव सांप्रदायिक एकता का प्रतीक था।" रथयात्रा उत्सव नागरिकों को जैन धर्म की ओर आकर्षित करने का सरल माध्यम था; इसीलिए जैन समाज वर्तमान समय में भी इस परम्परा को अपनाए हुए है।

संदर्भ

१. वेदालंकार, सत्यकेतु; मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. ६६२-६६३

२. शर्मा, बी. एन; सोशल एण्ड कल्चरल हिस्टरी ऑव नोर्दन इण्डिया; सूरी जिन प्रभ; विविध तीर्थ कल्प पृ. १००-१०१; नेमीचन्द्र; आख्याङ्क मणिकोश ३५९, शर्मा, राजस्थान थ्रू द एजिज, पृ. ४७०

३. पांडेय, रा. ब; हिस्टोरिकल एण्ड लिटरैरी इन्स्क्रिप्शंस, पृ. १४५

४. सोमदेव, यशस्तिलक चम्पू, कल्प १८, श्लोक २११

५. जैन, के. सी; मालवा थ्रू द एजिज, पृ. ४९६

६. शर्मा, दशरथ; अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ. २६५ आख्याङ्क मणिकोश, १६

७. इ. आई, xi, पृ. ५१; जैन, के० सी; एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑव राजस्थान, पृ. ५०९

८. सत्य प्रकाश; कुमारपाल चौलुक्य, प्र. १३५; सोमप्रभ, कुमारपाल प्रतिबोध (सं. मुनि जिनविजय) पृ. १७५, यशपाल, मोहराज पराजय (सं. सी. डी. दलाल) चतुर्थ अंक, १९, हेमचन्द्र, द्वयाश्रयमहाकाव्य XVI, ५०; मजूमदार, ए. के; चालुक्याज ऑव गुजरात, पृ. ३२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. ब्हूलर, लाइफ ऑव हेमचन्द्र, पृ. ४५, सत्यप्रकाश, पूर्वोक्त. पृ. १३५

१०. सत्यप्रकाश, वही

११. जैन, के. सी; एन्श्येण्ट सिटीज् एण्ड टाउण्स ऑव राजस्थान, पृ. १८३

१२. वही; ज्ञान सुन्दरजी; भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, पृ. १५९, फलौदी १९४३

१३. शर्मा, गोपीनाथ; राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पृ. ७५-७६; इ. आई IX, पृ. ६२ एवं १५८; गहलोत सुखवीर सिंह; पुरोहित, सोहन कृष्ण; शर्मा, नीलकमल; राजस्थान के प्रमुख अभिलेख; पृ. १९७-२००

१४. नाहर, पू. चं; जैन लेख संग्रह, खण्ड १ सं. ८४४ पृ. २१३; पी. आर. ए. एस. डबल्यू. सी. १८९८ पृ० ४३; गहलोत, पुरोहित, शर्मा; पूर्वो. पृ. २२३-२२४

१५. शोध पत्रिका, वर्ष २३ अंक ३, पृ. ६८-६९ अभिलेख की पंक्ति ४

१६. शर्मा, दशरथ; राज० थ्रू द एजिज, पृ. ४७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामस्नेही सन्त रामचरणजी पर भीखणजी का प्रभाव

लोकेश्वर प्रसाद शर्मा

अठारहवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध विविध घटनाओं से परिपूर्ण एक अति विशिष्ट काल है। १७५७ ई० में भारत के भाग्य परिवर्तन की सूचक प्लासी की लड़ाई बंगाल में लड़ी जा चुकी थी। इसका प्रभाव प्रत्यक्षतः राजस्थान पर चाहे दृष्टिगोचर न हुआ हो परन्तु अच्छी संख्या में मारवाड़ी व्यवसायी बंगाल में बसते थे अतः युद्ध की धमक यहां भी अनुभव की गई। दूसरी ओर अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण एवं इसी क्रम में १७६१ ई० में पानीपत के तीसरे युद्ध का भीषण विनाश भारतीय जन-मानस को भीतर तक झकझोर चुका था। राजस्थान की राजनीति के आकाश में मराठे एक धूमकेतु के समान उदित हो चुके थे। राजपूताना की सभी रियासतों की राजनीति तथा विशेष रूप से जयपुर, जोधपुर एवं मेवाड़ की राजनैतिक व्यवस्था को इनके आक्रमकों ने आक्रांत कर रखा था। इसकी पराकाष्ठा हुई जब सन् १७५० ई० में जयपुर के तत्कालीन शासक ईश्वरी सिंह को मल्हारराव होल्कर के आतंक स्वरूप विषपान करके आत्महत्या करनी पड़ी।[1] इधर १७५६ ई० में जोधपुर के शासक विजय सिंह को एक अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े।[2] उपरोक्त उदाहरणों से हम राजस्थान के जनमानस की निराशा का अंदाज सरलता से लगा सकते हैं।

असमंजस एवं हतोत्साह की मनःस्थिति में समाज का ध्यान सर्वशक्तिशाली परमात्मा की ओर प्रकाश एवं मार्गदर्शन हेतु जाना स्वाभाविक लगता है। दूसरी ओर यह भी अपेक्षित है कि सामाजिक-धार्मिक नेतृत्व समाज की मूल कमियों को दूर करने हेतु समाज-सुधार एवं धर्म-सुधार के आंदोलन प्रारम्भ करे।

इस समय धर्म की स्थिति किसी भी प्रकार से सन्तोषजनक नहीं थी। व्रत, उपवास, तीर्थ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि के नाम पर धर्मभीरू जनता को ठगा जा रहा था। ऐसे वातावरण को समाप्त करने के लिए ऐसी विभूतियों की आवश्यकता थी—जो युग की आवश्यकता को समझें तथा समाज को मार्ग दिखाएं। सम्भवतः इसी क्रम में धार्मिक क्षेत्र में ईश्वर के साकार अथवा निराकार स्वरूप, मूर्तिपूजा, मन्दिर प्रतिष्ठा तीर्थ-यात्रा, नदियों-सरोवरों की तथाकथित पवित्रता से लेकर अनेकानेक धार्मिक आडम्बरों आदि पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में भी कई समस्याओं यथा—जातिगत ऊंच नीच, सामाजिक भेदभाव, अस्पृश्यता, नारी जाति की हीन दशा, निरर्थक लोकाचार, आदि की मीमांसा व समसामयिक उपयोगिता पर पुनर्चिन्तन आवश्यक हो गया। इस आत्म-चिन्तन एवं विद्रोही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव ने जहां नवीन उत्साह का निर्माण किया वहीं समाज में खिन्नता, हीन-भावना एवं निराशा का वातावरण भी बनाया। मध्यकाल तथा विशेषकर १८ वीं शताब्दी के भक्ति-आंदोलन को इस संपूर्ण परिस्थिति ने एक महत्वपूर्ण मोड़ दिया। इस आंदोलन का मुख्य स्वर समष्टिवादी, मिश्रित एवं समन्वयपरक था।[४] यह एक अद्‌भुत सत्य था कि पूर्ववर्ती वैष्णव सन्तों के समान इस काल के राजस्थानी सन्तों ने "परमतत्त्व" को प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों पर सिद्ध करने या उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया अपितु उनका "ब्रह्म" जो स्वानुभव मनन, चिन्तन, तपस्या एवं साधना से प्रकट हुआ था उसे ही प्राप्त किया गया।

वैष्णव सन्तों की सगुण भक्ति-परम्परा का प्रतिनिधित्व राजस्थान में कई सन्तों ने किया जिसमें भक्तिमयी मीरां सबसे प्रमुख मानी जाती हैं। मीरांबाई ने सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्धि पायी व सगुण भक्ति की रसधारा से पूरे भारतीय समाज को आप्लावित कर दिया। परन्तु पूर्व उल्लिखित कारणों से राजस्थान में निर्गुण भक्तों की एक अटूट शृंखला का भी निर्माण हुआ जो समाज के मूलाधार तक गहरी पैठ गई थी। निर्गुण भक्ति के अनेक सम्प्रदाय यहां पनपे जिन्होंने शांत रस, वैराग्य, निर्वेद आदि की भावभूमि अपनाकर पूजा, सेवा या भक्ति की बजाय ज्ञान व आचरण को अधिक महत्व दिया। समता, निःस्पृहता और सदाचार के मूल्यों की एक सुदृढ़ भित्ति तैयार की। निर्गुण भक्ति अथवा ज्ञान-मार्ग की यह बेल कहीं बाहर से लाकर यहां नहीं लगाई गई अपितु यहां की मिट्टी से ही उपजी थी।[५]

जिस प्रकार उत्तर भारत में नानक एवं कबीर आदि सन्तों ने धर्म में पनपे कठ-मुल्लापन का विरोध कर निर्गुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, उसी प्रकार राजस्थान में अनेक सन्तों ने इसी भावभूमि पर एक निराकर ईश्वर द्वारा बनायी इस सृष्टि को समता की दृष्टि से देखने का, लोकोपकार एवं अनासक्ति को ही धर्म के प्रमुख कर्त्तव्य के रूप में देखने का ज्ञानमार्गी उपदेश दिया। इन सन्तों के द्वारा प्रेरित पन्थ या सम्प्रदाय आज राजस्थान की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की अनूठी पहचान बन गए हैं। इनका मूल स्वर एक निराकार, समदर्शी एवं सर्वव्यापी ईश्वर की भक्ति का है और जो वाणियां अथवा भजन गाये जाते हैं वे निर्गुण ब्रह्म के गुणानुवाद के रूप में ज्ञान-मार्ग के उपदेश हैं।

सन्त रामचरण इसी निर्गुण भक्ति परम्परा के एक ज्वाजल्यमान नक्षत्र हैं जिन्होंने रामानन्द की परम्परा को निरन्तरता प्रदान की एवं १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजस्थान में रूढ़िवादिता एवं धर्म के नाम पर ढकोसला तथा आडंबर को एक सक्षम चुनौती प्रदान की। रामस्नेही सम्प्रदाय के सन्त रामचरण ने जहां कबीर, दादू एवं अपने गुरु कृपाराम जी आदि से मूल प्रेरणा प्राप्त की, वहीं राजस्थान के लगभग सभी क्षेत्रों में फैले जैन धर्म से भी आप प्रभावित हुए। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उनके समकालीन प्रसिद्ध श्वेतांबर जैन धर्म के स्थानकवासी पन्थ में दीक्षित स्वामी भिक्षु अथवा सन्त भीखण जी का सन्दर्भ दर्शनीय है।

रामस्नेही सम्प्रदाय सुधारवादी निर्गुण संतों का सम्प्रदाय है। १८ वीं शताब्दी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में इस सम्प्रदाय के रेण, शाहपुरा, सिंहथल व खेड़ापा में क्रमशः दरियावजी, रामचरण जी, हरिरामदासजी तथा रामदासजी द्वारा स्थापित ४ स्थल थे।[५]

डॉ० आर० पी० व्यास के मतानुसार खेड़ापा पीठ का रामस्नेही सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व माना जाता है।[७] डॉ० जयसिंह नीरज आदि लेखकों के मत से रामस्नेही सम्प्रदाय की चार नहीं अपितु तीन ही प्रमुख शाखाएं अथवा केन्द्र हैं। उनके विचार से प्रथम शाखा सिंहथल, खेड़ापा, द्वितीय रेण एवं तृतीय शाखा शाहपुरा है।[८] इस सम्प्रदाय में रामस्नेही का शब्दार्थ राम का उपासक है पर वह राम दशरथपुत्र राम न होकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म का परिचायक है।[९]

संत रामचरणजी

शाहपुरा रामस्नेही सम्प्रदाय शाखा के आदि प्रवर्त्तक सन्त रामचरण का जन्म १७१९ ई० में जयपुर राज्य के सोढा ग्राम में जहां कि उनका ननिहाल था, माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार को हुआ।[१०] उनके पिता का नाम बखतराम एवं माता का नाम देऊजी था। बखतराम जी मालपुरा के पास बनवाड़ी गांव के निवासी थे। इनका वंश विजयवर्गीय वैश्य कुल का था। जन्म के पश्चात् बालक का नामकरण रामकिशन अथवा रामकृष्ण किया गया।[११]

वय प्राप्त करते ही रामकिशन ने अपनी तीव्र बुद्धि का परिचय दिया तथा अपने पिता का कार्य सम्भाल लिया। इनकी विलक्षण बुद्धि एवं योग्यता की खबर जयपुर नरेश तक पहुंची। परिणामस्वरूप इन्हें जयपुर बुला लिया गया और कालांतर में ये मन्त्री बना दिए गए। परन्तु महान् आत्माओं का जन्म सांसारिक कार्यों के लिए नहीं होता, अतः एक जीवन की दिशा मोड़ने वाला स्वप्न इन्हें आया और ये मन्त्री पद छोड़कर मुक्त हो गए। जैन धर्म के श्वेतांबर पंथ में प्रसिद्ध स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक लौंकाशाह (१४१५ ई०) के जीवन में यही घटित हुआ था।[१२]

स्वप्न वाली घटना के समय रामकिशन की आयु २४ वर्ष की थी। तथा वे अपने पिता की मृत्यु के समय जयपुर से बनवाड़ी आए हुए थे। स्वप्न में दिखाई दिया कि वे नदी में बहे चले जा रहे हैं। कोई सहायक नहीं है। परन्तु इस संकट से उन्हें एक साधु बचाते हैं तथा नदी से बाहर निकाल लेते हैं। स्वप्न में देखे इन्हीं महात्मा को रामकिशन सच्चा सद्गुरु समझते हैं व वैराग्य लेकर इनकी खोज में निकल पड़ते हैं।[१३] लम्बे समय तक गुरु की खोज में स्थान-स्थान पर भटकने के बाद भाग्य से मेवाड़ के एक ग्राम दांतड़ा में इनकी साध पूरी हुई तथा सच्चे गुरु के रूप में स्वामी कृपारामजी महाराज के दर्शन रामकिशन को हुए। इनकी ओर आकर्षित होने का कारण यह था कि इन सन्त की सूरत स्वप्न वाले महात्मा से मिलती थी। रामकिशन ने इनके चरण पकड़ लिए व दीक्षा की प्रार्थना की। १७५१ ई० की भाद्रपद शुक्ला ७, गुरुवार के दिन गुरु ने तारक मन्त्र से दीक्षा दी व इनका नाम रामचरण रख दिया।[१४]

गुरु की आज्ञा लेकर ज्ञानार्जन हेतु गूदड़ वेश में रामचरणजी ने सात वर्ष तक कठोर तपस्या की। सन् १७५८ ई० के गलता जी के मेले में सहस्रों साधुओं को विवेकहीन व्यवहार, नशा करना, जीव-जन्तु की रक्षा के प्रति दुर्लक्ष्य आदि बातें देख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर उन्हें बड़ा दुःख हुआ तथा कुछ नया करने की इच्छा अन्दर से जागृत हुई। अतः वह भीलवाड़ा पहुंच कर कठोर साधना में लग गए। दस वर्ष तक निर्गुण ब्रह्म की उपासना की। सन्त रामचरण का मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं था, अतः भीलवाड़ा की जनता के विरोध करने पर उन्होंने भीलवाड़ा छोड़ दिया। वे कुहाड़ा होते हुए शाहपुरा पहुंचे। यहीं पर अपने जीवन का शेष समय बिताते हुए सन्त रामचरण १७९८ ई० की वैशाख कृष्णा ५, गुरुवार को स्वर्गवासी हुए।

सन्त रामचरणजी एवं सन्त भीखणजी

मुनि बुद्धमल्ल ने तेरापन्थ के इतिहास में रामचरणजी को सन्त भीखणजी का समकालीन एवं बालसखा के रूप में चित्रित किया है।[१५] यह सन्दर्भ रामस्नेही सम्प्रदाय के साहित्य में भी प्राप्त होता है। नवीनतम साक्ष्य स्वामी रामनिवास, रामद्वारा, बाडमेर के द्वारा प्राप्त हुआ है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि तेरापन्थ के नवम आचार्यश्री तुलसी से उनकी भेंट हुई तो उन्होंने बताया कि दोनों ही महान् पुरुष बचपन से ही मित्र थे। बाल्यावस्था से ही दोनों मित्र वैराग्य की बातें करते थे। यह सम्पर्क इन दोनों बालकों को सोढ़ा ग्राम में ही हुआ था जहां ननिहाल होने के कारण रामकिशन आते थे और अपनी बुआ का ससुराल होने के कारण भीखण का यहां आना होता था। रामकिशन भीखणजी से साढ़े छः वर्ष बड़े थे, परन्तु एक से ही विचारों के कारण दोनों में मित्रता हुई एवं कालांतर में प्रगाढ़ता बढ़ती गई। यहां तक कहा जाता है कि दोनों ने साथ-साथ तथा एक ही गुरु से दीक्षा लेने का निर्णय भी किया था।[१६]

मुनि मिश्रीमल के अनुसार भीखणजी ने वचन को तोड़ते हुए अकेले ही पहले संन्यास ले लिया। इस घटना को सुनकर रामकिशन उलाहना देने के लिए सोजत जहां कि भीखण अपने गुरु के साथ ठहरे हुए थे, भी आए व अपनी नाराजगी व्यक्त की। परन्तु केवलरामजी स्वामी के अनुसार यह तथ्य सही नहीं है। क्योंकि रामस्नेही सम्प्रदाय के रिकार्ड के अनुसार रामकिशनजी पहले दीक्षित हुए व भीखणजी बाद में। रामकिशन भाद्र सुदि ७, संवत् १८०८ को तारक मन्त्र प्राप्त करते हैं जबकि भीखणजी मार्गशीर्ष कृष्ण १२, संवत् १८०८ को मुनि दीक्षा लेते हैं।[१७]

ऐसा लगता है कि सन्त रामचरणजी के चिन्तन एवं व्यवहार पर जैन आचार-विचार का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कई तत्त्व इस दृष्टि से हमारे सामने हैं—यथा, जैन मुनियों के समान रामस्नेही साधु भी रात्रि भोजन नहीं करते। पीने के पानी के बारे में भी ये साधु जैन मुनियों के समान सावधानी रखते हैं व बिना छना पानी नहीं पीते। चलते समय मुनियों के समान ही अतिरिक्त सावधानी रखकर चलते हैं जिससे कोई जीव न मर जाय। भिक्षा द्वारा ही आहार प्राप्त करते हैं, आदि आदि।[१८]

साहित्य के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि जैन सम्पर्क का प्रभाव रामचरणजी पर था। प्रसिद्ध ग्रंथ "स्वामी रामचरणजी की अनभैवाणी" में यह सन्दर्भ द्रष्टव्य है—

"सोही तेरापन्थ का, मेरा कहै न कोय।
मैं मेरी से लगि रह्यो, तो जगत पन्थ है सोय॥ १८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काम क्रोध तृष्णा तजे, दुविधा देय उठाय ।
रामचरण ममता मिटे तेरापन्थ न पाय ।। १९।।

अपने साहित्य में रामचरणजी ने तेरापन्थ शब्द को काम में लिया है। वहां उन्होंने अपनी ओर से तेरापन्थ शब्द की जो व्याख्या की है वह यह बतलाती है कि वे इस शब्द की मूल व्युत्पत्ति से परिचित थे।[19] "उपदेशरत्नकथाकोश" में संत रामचरण जी ने संत भीखणजी को स्नेह एवं आदरयुक्त भाव से याद किया है।[20]

संत भीखणजी के हृदय में तात्कालिक साधुओं के जिन शिथिलाचारों व मिथ्याचारों ने विक्षोभ एवं निराशा का निर्माण किया उसी का परिणाम था कि वे कह उठे—

वेराग्य घट्यो ने भेष बधियो, हाथ्यां रो भार गधा लदियो ।
थक गया, बोझ दियो राल्यो, एहवा भेषधारी पंचम कालो ।।

संभवतः इसी प्रकार के विचार संत रामचरण के मन में भी मिथ्याचार के विरुद्ध गलता जी के मेले में साधुओं के शिथिलाचार को देखकर उठे होंगे।

रामस्नेही संतों की जीवनचर्या भी तेरापन्थी जैन मुनियों की जीवनचर्या के पर्याप्त निकट है तथा कई बातें मेल खाती हैं। यथा—

१. मूर्तिपूजा में दोनों का ही विश्वास नहीं है।
२. मंदिरों में निवास नहीं करते।
३. भिक्षा मांगकर उदरपूर्ति तथा भोजन को संगृहीत नहीं करना।
४. रात्रि के समय भोजन ग्रहण नहीं करना।
५. दोनों ही साधु अपरिग्रह का अभ्यास करते हैं।
वह कम से कम सामान अपने पास रखते हैं।
६. दोनों ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं व धन के हाथ नहीं लगाते।
७. धातु पात्र का प्रयोग दोनों पन्थों के साधु नहीं करते।
८. दोनों ही पन्थों में स्वतन्त्र शिष्य बनाने पर रोक थी। सब शिष्य गुरु के ही माने जाते थे।[21]

दोनों सम्प्रदायों का आधार भिन्न होते हुए भी उपरोक्त साम्य यह सोचने को बाध्य करते हैं कि इन पन्थों में अन्तर्प्रभाव अवश्य रहे हैं और उसका कारण दोनों मतों के प्रतिपादकों की निकटता ही हो सकती है।

शिक्षाएं

संत रामचरण एवं संत भीखणजी ने, जो संयोग से एक समय ही हुए, एक-सी विरागी मनःस्थिति वाले थे, समाज के एक ही वर्ग अर्थात् वैश्य वर्ग से थे, अपनी शिक्षाओं में कई समान बातें उन्होंने उपदेशों में कही हैं। रामचरणजी ने गुरु को अत्यधिक महत्त्व दिया व उन्हें ब्रह्मस्वरूप माना है। उनके अनुसार संसार रूपी सागर से गुरु ही पार उतार सकता है।[22] संत भीखणजी भी इसी मत के थे। उनके मतानुसार सद्गुरु ही विनय करने पर मुक्ति की नींव अर्थात् आधार बताने की कृपा करता है। यथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनय मूल धर्म जिन कह्यो, ते जाणे बिरला जीव ।
ते सतगुरु रो विनय करे, त्यां दीधी मुक्ति री नींव ।।[१३]

सत्संग

सभी सगुण-निर्गुण संतों के समान संत रामचरणजी ने भी सत्संग के महत्त्व को समझा व अपने उपदेशों में इसको पर्याप्त स्थान दिया। अच्छे सत्संग का सुन्दर उदाहरण खटीक की छुरी एवं पारस के पत्थर के स्पर्श द्वारा सोना बनने का दिया है।[१४] जैन धर्म के मुनिजन अपने जैन सम्प्रदाय में ही विहार करते हैं अतः स्वतन्त्र रूप से सत्संग के अवसर कम ही प्राप्त होते हैं, फिर भी भीखणजी ने सद्पुरुष, सद्गुरु के संग रहने व कुगुरु के संग न रहने पर बहुत विस्तार से लिखा है। यथा—

कुगुरु भड़भूजा सारखा, त्यांरी संगत हो खोटी भाड़ समान ।
भारी कर्मा जीव तिणखां सारखा,
त्यांने झोंके हो खोटी सरधा में आंण ।।[१५]

आहार संयम

संत रामचरणजी के समकालीन सम्प्रदायों में आहार शुद्धि एवं आहार अपरिग्रह पर इतना अधिक जोर नहीं था जितना रामस्नेही सम्प्रदाय में था। जैन समाज जैसा ही अनुशासन इनके पंथ में अपने आप आ गया था क्योंकि रात्रि-भोजन वर्जित था, अतः दिन में एक समय ही भिक्षा व गोचरी ये दोनों ही पंथ करते थे तथा आज भी इसका पालन होता है।

भीखणजी आहार के लोभ से बचने के लिए कहते हैं—

अति आहार थी दुःख हुवे, गळै रूप बळ आय ।
प्रमाद निद्रा आलस हुवे, बळे अनेक रोग हुई जाय ।।
जेहनी रसना बस नहीं, ते खावे सरस आहार ।
व्रत भांग भागल हुवे, खोवे ब्रह्मव्रत सार ।।[१६]

नाम स्मरण

क्योंकि दोनों ही महान् सन्तों ने निराकार साधना का मार्ग चुना था, अतः उन्होंने आराध्य का नाम स्मरण ही मुक्ति का आधार बताया है। जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है संत रामचरण के आराध्य दशरथपुत्र राम नहीं थे, अतः नामस्मरण पर अत्यधिक जोर दिया। यथा—

सुख का सागर राम है, दुःख का भंजनहार ।
राम चरण तजिए नहीं, भजिये बारम्बार ।।[१७]

उधर भीखणजी ने इष्ट की आराधना पर सच्चे मन से ध्यान लगाने पर जोर दिया व कहा—

इह लोके जस अति घणो, परलोके सुख पाय ।
भाव सहित आराधिये, जनम मरण मिट जाय ।।[१८]

उपर्युक्त प्रमाणों, संदर्भों एवं समता के उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है कि रामस्नेही सम्प्रदाय एवं तेरापन्थ जैन सम्प्रदाय दोनों ही का समय की मांग के अनुरूप राजस्थान में उद्भव हुआ। जहां तक वेदविहित मार्ग से प्रभावित वैष्णवमार्गी रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रश्न है, यह बहुत कुछ रूढ़िवादी सगुण वैष्णव व्यवस्थाओं से स्वतन्त्र हो चुका था। ऐसी स्थिति में रामचरणजी ने ही बहुत-सी मान्यताएं निर्मित की होंगी जिनमें उनके बालसखा का प्रभाव, भीखणजी से निरन्तर सम्पर्क के कारण जैन दर्शन की ओर उनका झुकाव और उसी क्रम में कुछ अच्छी बातों का अपने पंथ के साधु सन्तों के आचार-व्यवहार में सम्मिश्रण वे कर सके होंगे, यह संभावना दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार कुछ न कुछ रामस्नेही सम्प्रदाय का भीखणजी के पन्थ पर भी प्रभाव पड़ा होगा। एक गुरु का अनुशासन, मिथ्याचार का विरोध व जैन कालगणना के अनुसार "पंचम आरा"[२९] का कठिन काल कहकर चलने वाले शिथिलाचार का विरोध आदि सुधारवादी चेतना भीखणजी ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में रामचरणजी से पाई हो, इसकी पर्याप्त संभावना है।

सन्दर्भ

१. गहलोत, सुखवीर सिंह; राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास, १९६९, पृ. १११; व्यास, आर. पी.; राजस्थान का बृहत् इतिहास, पृ. १४३

२. वही, पृ. ११२; वही पृ. १५४

३. शुक्ल, दिनेशचन्द्र एवं सिंह, ओंकारनारायण—राजस्थान की भक्ति परम्परा एवं संस्कृति, १९९१, पृ. ११७

४. वही, पृ. ११८

५. नीरज, जयसिंह; शर्मा, भगवतीलाल : राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराएं, पृ. २९

६. डॉ. पेमाराम : मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आंदोलन, १९७७, पृ. २१७

७. व्यास, आर. पी.—राज० का वृहत् इतिहास, पृ. ४३४; जे. के. ओझा, पृ. ३०२

८. राज० की सांस्कृतिक परम्पराएं, पृ. ३२

९. वही, पृ. ३३

१०. स्वामी लालदास—रामचरणजी की परची पद्य—३०, डॉ. पेमाराम, पृ. २२४

११. स्वामी केवलराम—श्री रामस्नेही सम्प्रदाय, पृ. ४

१२. कोठारी, एस. आर.-जैन भारती, जून १९८९, पृ. ३५४—वे सिरोही क्षेत्र के अरहटवाड़ा के निवासी थे तथा अपनी योग्यता से अहमदाबाद के शासक मुहम्मदशाह के मन्त्री बन गए। कालांतर में बादशाह के पुत्र कुतुबशाह ने सिंहासन हेतु अपने पिता की हत्या कर दी, यह देखकर लोंकाशाह विरक्त हो गए।

१३. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़, १८९१ ई., पृ. २८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. रामचरणजी की परची (ह. लि. ग्रन्थ) पद्य ३१-३२, शाहपुरा; श्री रामस्नेही सम्प्रदाय, पृ. ७-१०
१५. मुनि बुद्धमल्ल, तेरापन्थ का इतिहास, १९९०, पृ. ४४
१६. मुनि बुद्धमल्ल, तेरापन्थ का इतिहास, १९९०, पृ. ४३
१७. केवलराम स्वामी : श्री रामस्नेही सम्प्रदाय, पृ. १-३६
१८. जैन भारती साप्ताहिक, वर्ष ९, अंक १९, पृ. ३११-३१२ श्रमण सागरमल
१९. तेरापन्थ का इतिहास, पृ. ४४
२०. रामपुरिया श्रीचंद—आचार्य भिक्षु जीवन कथा और व्यक्तित्व, पृ. २२
२१. श्री रामस्नेही सम्प्रदाय एवं तेरापन्थ के इतिहास के आधार पर।
२२. रामचरणजी की अणभै वांणी, छन्द १७
२३. रामपुरिया श्रीचंद—आचार्य संत भीखणजी, १९४८, पृ. २१५
२४. रामचरणजी की अणभै वांणी, पृ. ६
२५. रामपुरिया श्रीचंद—आचार्य संत भीखणजी, पृ. २०७
२६. रामपुरिया श्रीचंद—आचार्य संत भीखणजी, पृ. १९८
२७. रामचरणजी की अणभै वांणी, पृ. ८
२८. आचार्य संत भीखणजी, पृ. २०९
२९. जैन काल गणना में अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी के रूप में दो काल बताए हुए हैं जहां अवसर्पिणी में समाज पतन की ओर गिरता जाता है वहां उत्सर्पिणी में उन्नति की ओर बढ़ता जाता है। इस सम्पूर्ण क्रम को ६ आरों में बांटा जाता है। आजकल पंचम आरा "दुषम दुषमा" अभी चल रहा है जो पतन का काल है तथा कठिन समय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दर्शन का अपरिग्रहवाद : आज की आवश्यकता

कुमुदनाथ झा

दर्शन की मूल समस्या जीवन अथवा श्रेयस्कर जीवन के परिप्रेक्ष्य में जगत् और उसकी अनुभूतियों की व्याख्या करना ही नहीं है बल्कि सद्गुण, व्रत, मूल्य, आदर्श आदि की उपयोगिता भी निरूपित करना है। इसलिए सुकरात ने सद्गुण को ज्ञान कहा और अपने दर्शन में सद्गुण के व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया। वस्तुतः जिस ज्ञान और सद्गुण का सम्बन्ध अथवा यों कहें कि जिस ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य और दर्शन का सम्बन्ध जीवन से नहीं है, वह सब कुछ होते हुए भी तुच्छ है, अनुपयोगी है। जैन-दर्शन का अपरिग्रह केवल सिद्धांत नहीं है, केवल चिंतन-मनन का विषय नहीं है बल्कि एक महत्त्वपूर्ण नैतिक सद्गुण है, जिसे जीवन में दृढ़तापूर्वक उतारना होगा तथा जिसकी ओर निरन्तर बढ़ते रहना होगा। आज के युग की आवश्यकता है तथा जीवन के व्यापक संदर्भों में प्रयोग का विषय है।

अपरिग्रह के स्वरूप को भलीभांति समझने के लिए जैनाचार्यों ने परिग्रह को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। संभवतः तत्वार्थाधिगमसूत्र में परिग्रह की सबसे सूक्ष्म परिभाषा दी गई है—"मूर्च्छा परिग्रहः" अर्थात् भौतिक वस्तुओं के प्रति तृष्णा एवं ममत्व का भाव रखना मूर्च्छा है। शास्त्रों में परिग्रह को एक महावृक्ष कहा गया है जिसकी जड़ें तृष्णा, आकांक्षा आदि हैं तथा छलकपट, कामभोग आदि इसकी शाखाएं तथा फल हैं। प्रश्न व्याकरणसूत्र आदि ग्रन्थों में आंतरिक एवं बाह्य परिग्रह की बात भी कही गई है। आत्मा के निज गुणों को छोड़कर क्रोध, लोभ आदि परभावों को ग्रहण करना आंतरिक, परिग्रह है तथा ममत्व भाव से धन वैभव आदि भौतिक वस्तुओं का संग्रह बाह्य परिग्रह है।

जैन ग्रन्थों में परिग्रह के तीस नामों का उल्लेख है जो उसके स्वरूप के विभिन्न आयामों को प्रकट करते हैं। वस्तुतः परिग्रह में समस्त विश्व एवं व्यक्ति का संपूर्ण मनोलोक समाहित है। अपरिग्रह में हम इन दोनों से क्रमशः निर्लिप्त होकर आत्म-स्वरूप मात्र रह जाते हैं जो जैन-दर्शन की दृष्टि से आत्मज्ञान की चरम उपलब्धि है।

हजारों वर्षों से भारतीय मनीषी भौतिकता के दुष्परिणामों को व्यक्त करते आ रहे हैं। पाश्चात्य देशों के समृद्ध जीवन ने भी यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव को जिस सुख तथा संतोष की तलाश है, वह धन-वैभव, मान-सम्मान भौतिकता में नहीं है। फिर भी, मनुष्य के पास अपार परिग्रह है, उसके प्रति तृष्णा है. वस्तुओं के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए बढ़ता हुआ मोह है, बढ़ती हुई लालसाएं हैं। इस प्रकार परिग्रह के कई कारक तत्त्व हैं जिन्हें निम्न रूप में रखा जा सकता है :—

ऐतिहासिक तत्त्व

जिस परम्परा के चिंतक परिग्रह से सर्वथा निर्लिप्त होकर विचरे, जिनके उपदेशों में सबसे सूक्ष्म व्याख्या परिग्रह के दुष्परिणामों की हुई, उसी परम्परा के अनुयायियों ने परिग्रह को अत्यधिक पकड़ा। भौतिक समृद्धि के कर्णधारों में जैन समाज के श्रावक अग्रणी हैं। भगवान् महावीर के समय और मध्य युग के शाह और साहूकार प्रसिद्ध हैं। वर्तमान युग में भी जैन धर्म में श्रीमंतों की कमी नहीं है। ढाई हजार वर्षों के इतिहास में देश की शिक्षा और संस्कृति इन श्रेष्ठ जनों के आर्थिक अनुदान से संरक्षित हुई है। फलतः यह श्रेष्ठजनों का धर्म क्रमशः बनता गया। विभिन्न प्रकार के दानों द्वारा परिग्रह अर्थात् संग्रह को अपरोक्ष स्वीकृति मिलती रही। इस तरह परिग्रह और धर्म एक-दूसरे के बराबर आकर खड़े हो गए।

मनोवैज्ञानिक तत्त्व

परिग्रह का दूसरा कारण मनोवैज्ञानिक है। हर व्यक्ति सुरक्षा में जीना चाहता है। सुरक्षा निर्भयता से आती है और निर्भयता पूर्णता से। व्यक्ति अपने शरीर की क्षमता को पहचानता है, उसे अंगरक्षक चाहिए, सवारी चाहिए, धूप और वर्षा से बचने के लिए महल चाहिए और वे सब चीजें चाहिए जो शरीर की कोमलता को बनाये रखे। इसीलिए इस जगत् में अनेक वस्तुओं का संग्रह है। शरीर की अपूर्णता वस्तुओं से पूरी की जाती है। शरीर के सुख का जिसे जितना अधिक ध्यान है, वह उतनी ही अधिक वस्तुओं के संग्रह का पक्षपाती है। इन वस्तुओं के सामीप्य से व्यक्ति निर्भय बनना चाहता है। धर्म, दान-पुण्य उसके शरीर को स्वर्ग की सम्पदा प्रदान करेंगे, इसलिए उसने धर्म को भी वस्तुओं की तरह संग्रह कर लिया है। वस्तुओं को उसने अपने महल में संजोया है, धर्म को अपने बनाये हुए मन्दिर में रख दिया है। इस तरह, इस लोक तथा परलोक दोनों जगह परिग्रही अपनी सुरक्षा का इंतजाम करके चलता है।

पारिवारिक तथा सामाजिक तत्त्व

परिग्रह के प्रति इस आसक्ति के विकसित होने में आज के परिवार की युवा पीढ़ी भी एक कारण है। पहले व्यक्ति अपने परिवार तथा सम्पत्ति के प्रति इसलिए ममत्व को कम कर देता था कि उसे विश्वास होता था कि उसकी संतान परिवार तथा व्यापार को सम्हाल लेगी। किन्तु परिवार के प्रधान को आज की युवा पीढ़ी में यह विश्वास नहीं रहा क्योंकि पढ़े-लिखे लड़के-लड़कियों को भी उचित रोजगार नहीं मिल पाता। ऐसी स्थिति में वह अपने लिए तो परिग्रह करता ही है, पुत्र-पुत्री में ममत्व होने से उसके लिए भी जोड़कर रख जाना चाहता है। न केवल पुत्र-पुत्री अपितु बहू तथा दामादों का पोषण भी पिता के ऊपर आ गया है। ऐसी स्थिति में यदि वह परिग्रह न करे तो करे क्या। युवा पीढ़ी की बढ़ती हुई लालसाएं और घटती हुई आत्मिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्यताएं परिग्रह का एक मुख्य कारण कहा जा सकता है।

वर्तमान सामाजिक मूल्य से भी परिग्रह-वृत्ति प्रभावित हुई है। समाज में हमने उसे प्रतिष्ठा देनी प्रारम्भ कर दी है जो धन-वैभव सम्पन्न है। नैतिक मूल्यों के धनी हमारी उंगलियों पर नहीं चढ़ते। युवा पीढ़ी के कलाकारों, चरित्रवान युवक-युवतियों एवं चिंतनशील व्यक्तियों की हमें पहचान नहीं रही। बनावटीपन की इस भीड़ में अपरिग्रह का चिंतन कहीं खो गया है। जीवन मूल्यों को हमने इतना अधिक पकड़ लिया है कि जीवन मूल्य हमारे हाथ से छिटक गया है और जीव का, आत्मा का, निर्मलता का मूल्य न रह जाय तो जड़ता ही पनपेगी। कीचड़ ही कीचड़ नजर आयेगा।

आधुनिक तत्त्व

भय के वैज्ञानिक उपकरण बढ़े हैं। अतः उनसे सुरक्षित होने के साधन भी खोजे गए हैं। वर्तमान से असंतोष एवं भविष्य के प्रति निराशा ने व्यक्ति को अधिक परिग्रही बनाया है। पहले स्वर्ग के सुख के प्रति आस्था होने से व्यक्ति इस लोक में अधिक सुखी होने का प्रयत्न नहीं करता था। अब वह भ्रम टूट गया। अतः साधन सम्पन्न व्यक्ति यहीं स्वर्ग बनाना चाहता है। स्वर्ग के सुखों के लिए रत्न, अप्सराएं आदि चाहिए, इसलिए व्यक्ति किसी तरह से भी उन्हें जुटा रहा है और उस अपव्यय को रोक रहा है जो वह धर्म पर खर्च करता था। पहले धर्म और व्यापार साथ-साथ थे। अब धर्म में व्यापार प्रारम्भ हो गया है।

भौतिकवाद के इस युग में अध्यात्म तथा सद्गुण की चर्चा ने जिस ढंग से जोर पकड़ा है, उससे प्रतीत होता है कि स्थायी सुख भौतिक उपलब्धियों में नहीं है और परिग्रह से प्राप्त आंतरिक क्लेश तथा पीड़ा के प्रति छटपटाहट भी है। विश्व स्तर पर परिग्रह के कारण जो आपाधापी मची है, विघटन का जो धरातल तैयार हुआ है, वह साधारण संकट का परिचायक नहीं है। सच पूछा जाय तो कहा जा सकता है कि सारी मनुष्यता और सारी सभ्यता में संकट है। धनी और निर्धन वर्गों की विकसित और विकासशील देशों की खाई चौड़ी हो रही है।

परिग्रह के कारण विश्व जनमानस आतंकवाद, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, लूट, हत्या, अपहरण जैसे अनैतिक कर्मों द्वारा अंधकारपूर्ण भविष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। पृथकतावादी शक्तियां इस प्रकार सक्रिय हो रही हैं कि मानव, मानव का दुश्मन बन, "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श त्याग, अंधखोह में गिरने को प्रयत्नशील है।

परिग्रह ने अशांति, हिंसा, बुराई, अनैतिकता, भौतिकता, अधार्मिकता का मार्ग प्रशस्त किया है और विश्व को एक ऐसी ज्वाला में झोंक दिया गया है कि मानवता, सहअस्तित्व तथा प्रेम सद्भावना के स्थान पर हम हिंसक समाज की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं। अतः समाज की आंतरिक तथा बाह्य घटनाओं एवं स्थितियों का सम्यक् आकलन कर समाज को स्वस्थ शिक्षा देने तथा व्यक्ति को सही मार्ग पर लाने की महती आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति जब तक स्वयं का स्वामी नहीं होगा तब तक वस्तुएं उस पर राज्य करेंगी। वे उसे इतना मूर्च्छित कर देंगी कि वह स्वयं को भूल जाएगा। जिस शरीर को उसने धरोहर के रूप में स्वीकार किया है उस शरीर की वह स्वयं धरोहर हो जायेगा।

भगवान् महावीर ने जीव और शरीर के भेद विज्ञान से ही अपनी बात प्रारम्भ की है। बिना इसके अहिंसा, अपरिग्रह आदि कुछ फलित नहीं होता। अपरिग्रह की साधना के लिए मूर्च्छा को तोड़ना आवश्यक है। यही समय की मांग है, आज के युग की आवश्यकता है। भगवान् महावीर की दृष्टि में हमें अपने जीवन के गन्तव्य को निश्चित करना आवश्यक है। बनावटीपन के रास्ते से अलग रहना जरूरी है। यदि बाहर-भीतर एक सा रहना है तो आत्मा और शरीर की सही पहचान करनी होगी। आत्मज्ञान जितना बढ़ता जायगा, उतने ही हम अहिंसक होते जायेंगे, अपरिग्रही बनते जायेंगे।

सत्य और अस्तेय को जीने वाला व्यक्ति परिग्रह में प्रवृत्त नहीं हो सकता। शरीर के ममत्व के त्याग के साथ ही परिग्रह या वस्तुओं का संग्रह महत्त्वहीन हो जाता है। आत्मा के विकास के लिए किसी परायी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। अणुव्रतों तथा महाव्रतों की साधना से अपरिग्रह का मार्ग प्रशस्त होगा—यह निश्चित है।

कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थिति में बदलाव के लिए आगे आ सकता है। उसके परिवर्तन की रश्मियां समाज को प्रभावित करेंगी ही। इसलिए जैन समाज अशुभ से शुभ की ओर, हेय से उपादेय की ओर जाने में किसी समारोह की प्रतीक्षा नहीं करता, भीड़ का अनुगमन नहीं चाहता और न ही किसी राजनेता या बड़े व्यक्तित्व के द्वारा उसे उद्घाटन की आवश्यकता होती है। श्रावक जिन गुणों का विकास करता है, उनकी अभिव्यक्ति समाज में होती है।

स्थानांगसूत्र में दस प्रकार के जिन धर्मों का विवेचन है वे गृहस्थ के सामाजिक दायित्वों को ही पूरा करते हैं। अणुव्रतों का पालन बिना समाज के सम्भव नहीं है। अतः जैनधर्म को कितना ही निवृत्तिमूलक क्यों न कहा जाय, किन्तु वह प्रवृत्ति मार्ग से अलग नहीं है। उसमें केवल वैराग्य की बात नहीं है बल्कि समाज के उत्थान की भी व्यवस्था है। जरूरत केवल इस बात की है कि हमारी दृष्टि सही हो, जो काम करें उसके परिणाम से भलीभांति परिचित हों, जीवन-यापन के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनको प्राप्त करने के क्या साधन हैं तथा उनके उपभोग से दूसरों के हित का कितना नुकसान होता है आदि बातों को ध्यान में अवश्य रखें हममें वस्तुओं की मर्यादा नहीं, अपनी मर्यादा रखना जरूरी है। इसी से आत्मज्ञान की समझ विकसित होगी और गृहस्थ, व्यापारी आदि भी अपरिग्रही बन सकेंगे। फलतः समाज में व्याप्त शोषण तथा जमाखोरी की प्रवृत्ति को बदलने में निश्चय ही मदद मिलेगी—ऐसी हमारी मान्यता है।

स्पष्ट है कि यदि हम अहिंसा आदि सद्गुणों के पालन में ईमानदार हैं तो हम परिग्रही नहीं हो सकते। यदि हम परिग्रही हैं तो अहिंसा आदि सद्गुणों का पालन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं कर सकते। वस्तुतः अहिंसा और परिग्रह दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। इसलिए अपरिग्रह के इस दर्पण में आज के समाज तथा आज के युग का स्वरूप देखना होगा तथा उस दिशा में आगे बढ़ना होगा। गांधी ने यरवदा मन्दिर में लिखा है—"परिग्रह वस्तुतः भविष्य की दृष्टि से किया जाता है। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-ब-रोज पैदा करता है। इसलिए यदि हमें उन पर दृढ़ विश्वास है तो हमें भी समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-ब-रोज देता है और देता रहेगा।" यद्यपि अहिंसा और अपरिग्रह की पूर्णता तब तक एक अप्राप्य आदर्श मात्र रहेगी जब तब हम जीवित हैं क्योंकि शरीर रूपी परिग्रह तो सदा साथ रहेगा तथापि हमें सर्वदा उसकी साधना के लिए सचेष्ट रहना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द के दर्शन में 'उपयोग' की अवधारणा

राजवीर सिंह शेखावत

प्रत्येक जीव के, मुख्यतः मानव के ज्ञान, कर्म, कर्म-फल—सुख-दुःख अनुभव अर्थात् संवेदनात्मक अनुभूति और विचारों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। एक व्यक्ति का ज्ञान सदैव एक ही विषय का तथा एक जैसा नहीं होता है वह बदलता रहता है। उसे कभी शब्द का ज्ञान होता है तो कभी रूप का कभी मानसिक प्रत्ययों का तो कभी संश्लिष्ट वस्तुओं का और कभी वह यथार्थ होता है तो कभी अयथार्थ। व्यक्ति कभी शुभ कर्म करता है, कभी अशुभ और कभी शुद्ध कर्म। वह कभी सुख की अवस्था में होता है तो कभी दु.ख की अवस्था में। इसी प्रकार उसके मन में जो विचार आते रहते हैं वे सदैव एक ही विषय के, एक रूप विचार नहीं होते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि मानव के ज्ञान, कर्म, कर्मफल, अनुभव और विचारों तथा उनके परिवर्तन का आधार क्या है? प्रत्युत्तर में कुन्दकुन्द का मत है कि ज्ञान आदि तथा उनके परिवर्तन का आधार 'चेतना' है। पुनः प्रश्न उठता है कि चेतना कूटस्थ नित्य अर्थात् अपरिणमनशील है या परिणमनशील है? यदि वह अपरिणमनशील है तब ज्ञान आदि में परिवर्तन अथवा बदलाव कैसे सम्भव है और यदि वह परिणमनशील है तब उसका स्वरूप क्या है? जवाब में कहा गया है कि चेतना परिणमनशील है और चेतना की परिणमनशीलता के कारण ही ज्ञान आदि में परिवर्तन या बदलाव सम्भव है। चेतना की इस परिणमनशीलता को अर्थात् चैतन्य परिणमन को जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'उपयोग' कहा गया है।

'उपयोग' अर्थात् चैतन्य परिणमन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कुन्दकुन्द ने उसके दो रूप बतलाए हैं—'ज्ञान रूप चैतन्य परिणमन' और 'दर्शन रूप चैतन्य परिणमन'।[1] जब चैतन्य परिणमन 'विशेष' को ग्रहण करता है तब वह 'ज्ञान रूप चैतन्य परिणमन' कहलाता है और जब 'सामान्य' को ग्रहण करता है तब वह 'दर्शन रूप चैतन्य परिणमन' कहलाता है।[2] यहां प्रश्न उठता है कि 'विशेष' तथा 'सामान्य' से क्या तात्पर्य है? 'सामान्य' तथा 'विशेष' से तात्पर्य द्रव्य, वस्तु या विषय के सामान्य या विशेष रूप से है या इन सबसे भिन्न किसी अन्य से संबन्धित है? ध्यान देने की बात यह है कि कुछ विचारकों के अनुसार जब चैतन्य स्व से भिन्न किसी विषय या वस्तु को जानता है तब वह 'ज्ञान' कहलाता है और जब चैतन्य मात्र चैतन्याकार रहता है तक वह 'दर्शन' कहलाता है।[3] किन्तु कुन्दकुन्द को ऐसा मान्य नहीं है, क्योंकि कुन्दकुन्द के अनुसार चैतन्य मात्र चैतन्याकार नहीं होता है। चैतन्य सदैव विषय सापेक्ष होता है। चैतन्य या चैतन्य परिणमन चाहे ज्ञान रूप हो या दर्शन रूप, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पर्क सदैव विषय से रहता है।

ज्ञान रूप चैतन्य परिणमन या तो 'स्वभाव रूप' होता है या 'विभाव रूप'।[५] संवेदन ग्राह्य शक्ति तथा प्रकाश आदि बाह्य निमित्त की सहायता से निरपेक्ष जो 'केवल ज्ञान'[६] रूप चैतन्य परिणमन होता है, वह 'स्वभाव ज्ञान चैतन्य परिणमन' कहलाता है,[७] और जो संवेदन ग्राह्य शक्ति, असंवेदन ग्राह्य शक्ति अर्थात् मन और प्रकाश आदि बाह्य निमित्त सापेक्ष जो ज्ञान रूप चैतन्य परिणमन होता है वह 'विभाव ज्ञान चैतन्य परिणमन' कहलाता है। विभाव ज्ञान चैतन्य परिणमन की कुछ अवस्थाएं यथार्थ या वास्तविक होती हैं और कुछ अवस्थाएं अयथार्थ अर्थात् अवास्तविक होती हैं, जिन्हें क्रमशः 'सम्यग् विभाग ज्ञान चैतन्य परिणमन' और 'मिथ्याविभाव ज्ञानचैतन्य परिणमन' कहते हैं। सम्यग् विभाव ज्ञान के चार प्रकार हैं—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय। मिथ्या विभाव ज्ञान के तीन प्रकार हैं—कुमति, कुश्रुत और कुअवधि।[८] यहां प्रश्न उठता है कि क्या चैतन्य परिणमन यथार्थ और अयथार्थ होता है? चैतन्य परिणमन को यथार्थ और अयथार्थ कहने से क्या तात्पर्य है? चैतन्य परिणमन के यथार्थ और अयथार्थ होने का क्या कारण है? चैतन्य का यथार्थ और अयथार्थ से क्या सम्बन्ध है? आदि।

स्वभाव तथा विभाव के भेद से 'दर्शन उपयोग' अर्थात् दर्शन रूप चैतन्य परिणमन भी दो प्रकार का है—'स्वभाव दर्शन' चैतन्य परिणमन' और 'विभाव दर्शन चैतन्य परिणमन'।[९] निमित्त या साधन निरपेक्ष तो 'केवल दर्शन' रूप चैतन्य परिणमन होता है उसे 'स्वभावदर्शन चैतन्य परिणमन' कहते हैं और किसी निमित्त या साधन सापेक्ष अर्थात् जो संवेदन ग्राह्य शक्ति, मन तथा प्रकाश आदि के निमित्त से दर्शन रूप चैतन्य परिणमन होता है उसे 'विभाव दर्शन चैतन्य परिणमन' कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधि दर्शन।[१०] यहां प्रश्न उठता है कि मतिज्ञान और चक्षुदर्शन, अवधिज्ञान और अवधि दर्शन, केवल ज्ञान और केवल दर्शन में क्या भेद हैं? अर्थात् कुन्दकुन्द एक ही प्रक्रिया द्वारा होने वाले चैतन्य परिणमन को ज्ञान भी कह रहे हैं और दर्शन भी, अतः यहां प्रश्न उठता है कि ज्ञान तथा दर्शन में क्या भेद हैं?

यदि ज्ञान और दर्शन में भेद मानें तब हमारे सामने निम्नलिखित विकल्प हैं—पहले, ज्ञान 'विशेष' को ग्रहण करता है और दर्शन 'सामान्य' को। दूसरे, ज्ञान चेतना से भिन्न विषयों को जानता है अर्थात् ज्ञान का विषय चेतना से भिन्न विषय या वस्तुएं हैं और दर्शन का विषय मात्र चेतना है। तीसरे, किसी विषय के ज्ञान में चैतन्य परिणमन की पूर्व अवस्था 'दर्शन' है और परवर्ती अवस्था 'ज्ञान'। इनमें से पहले दो विकल्प स्वीकार नहीं किए जा सकते हैं, क्योंकि पहले विकल्प को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि उसमें 'विशेष' और 'सामान्य' का अर्थ स्पष्ट नहीं है और दूसरा विकल्प कुन्दकुन्द को मान्य नहीं हैं, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अब यदि तीसरे विकल्प को लें, तब वह भी उलझन मुक्त नहीं हैं, क्योंकि यद्यपि सामान्य स्तर पर तो वह ठीक है, किन्तु केवल ज्ञान या सर्वज्ञ के स्तर पर वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि केवल ज्ञान में पूर्व अवस्था और पश्चात् अवस्था ऐसा भेद नहीं रहता है, अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञ की अवस्था में जो ज्ञान होता है उसमें कालिक भेद नहीं होता है। सर्वज्ञ प्रत्येक क्षण में समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को अर्थात् समस्त अवस्थाओं को जानता है। दूसरे शुद्ध अवस्था में अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन, दोनों प्रत्येक क्षण में होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि 'दर्शन' और 'ज्ञान' न तो एक हैं और न ही ज्ञान की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्था है।

चैतन्य परिणमन के उपर्युक्त दोनों रूप जीव की शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाओं में उपस्थित रहते हैं, किन्तु अशुद्ध अवस्था में चेतना या चैतन्य परिणमन तीन रूपों में—ज्ञान, कर्म, और कर्मफल में रूपांतरित होता है।[12] कुन्दकुन्द के शब्दों में,

"परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणे भणिदा॥"

—प्रवचनसार, गाथा २.३१

अर्थात् आत्मा चेतना रूप में परिणमित अर्थात् रूपांतरित होती है तथा चेतना तीन प्रकार से (रूपांतरित) मानी गई है। फिर वह (चेतना) ज्ञान में, कर्म में तथा कर्म के फल में (रूपांतरित) कही गई हैं।

पदार्थ का विकल्प अर्थात् जानना चेतना का ज्ञान रूप में रूपांतरित होना है। चेतना का मन के साथ, जो कि पुद्गल है, सम्पर्क होने से वह मानसिक विचारों या भावों के रूप में परिणमन करती है। चेतना का यह मानसिक भावों के रूप में परिणमन करना चेतना का कर्म रूप में रूपांतरित होना है।[13] इसके शुभ, अशुभ और शुद्ध के भेद से तीन रूप हैं।[14] जो कर्म चेतना या मानसिक विचार या भाव रूप चैतन्य परिणमन अन्य जीवों के हित रूप हो, वह 'शुभ कर्म चेतना' है और जो कर्म चेतना अन्य जीवों के अहित तथा विषयों के प्रति रागद्वेष रूप हो, वह 'अशुभ कर्म चेतना' है।[15] इन दोनों प्रकार के कर्म रूप चैतन्य परिणमन से जीव का पुद्गल से सम्बन्ध अर्थात् बन्ध होता है, जो जीव के स्वरूप को आच्छादित करता है। इन दोनों के विपरीत जो शुद्ध भाव रूप चैतन्य परिणमन हित-अहित तथा राग-द्वेष रूप नहीं है, अपितु शम है वह 'शुद्ध कर्म चेतना' है। जीवन इन स्वयं के शुभ, अशुभ और शुद्ध भावों या चैतन्य परिणमन का कर्त्ता होता है।[16] ध्यान देने की बात यह है कि जीव स्वयं के भावों का कर्त्ता तथा उनके फल का भोक्ता होता है, किन्तु पर के भावों का न तो कर्त्ता होता है और न ही भोक्ता।

शुभ, अशुभ और शुद्ध कर्म चेतना अपना-अपना एक विशेष संस्कार या प्रभाव छोड़ती है जिसके कारण चेतना पुनः कालांतर में उस संस्कार या प्रभाव के अनुसार रूपांतरित होती है उसे 'कर्म फल चेतना' कहते हैं। अन्य शब्दों में, शुभ, अशुभ आदि कर्म चेतना के अनुसार चेतना का सुख-दुःख आदि के रूप में परिणमन करना 'कर्म फल चेतना' है।[17] यहां प्रश्न उठता है कि चेतना में जब परिणमन होता है या चेतना रूपांतरित होती है तब उसमें कोई क्रिया होती है या नहीं? जवाब में कहा जा सकता है कि चेतना में जब परिणमन होता है या वह रूपांतरित होती है तब उसमें क्रिया या कर्म होता है, क्योंकि बिना क्रिया या कर्म के किसी वस्तु या विषय में परिवर्तन सम्भव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है अर्थात् क्रिया या कर्म के होने पर ही चेतना रूपांतरित होती है। किन्तु चेतना में क्रिया या कर्म कैसे सम्भव है, क्योंकि क्रिया या कर्म पुद्गल है।[१५] कुन्दकुन्द ने कर्म को पुद्गल बताते हुए कहा है—

"उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदियकाया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पोग्गलं जाणे॥"

—पंचास्तिकाय, गाथा ८२

अर्थात् इन्द्रियों के उपभोग्य विषय, इन्द्रियां, शरीर, मन, कर्म और अन्य जो मूर्त हैं वे सब पुद्गल हैं।

दूसरे, क्रिया या कर्म नित्य सहभावी धर्म है या अनित्य क्रमभावी अर्थात् कर्म 'गुण' है या 'पर्याय'? क्रिया को चेतना का 'गुण' नहीं माना जा सकता है, क्योंकि चेतना स्वयं जीव का 'गुण' है और 'गुण' स्वयं निर्गुण होते हैं। दूसरी ओर क्रिया या कर्म को 'पर्याय' भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि 'पर्याय' अनित्य है, जबकि क्रिया या कर्म चेतना में नित्य रूप में पाया जाता है। इस समस्या के समाधान के लिए दो अन्य प्रश्नों का समाधान आवश्यक है। ये प्रश्न हैं क्रिया या कर्म से क्या तात्पर्य है? क्रिया या कर्म दोनों एक हैं या भिन्न? क्रिया या कर्म तथा आत्मा में क्या सम्बन्ध है? कुन्दकुन्द ने यद्यपि इन प्रश्नों पर विचार नहीं किया, किन्तु यदि कुन्दकुन्द के विचारों के सन्दर्भ में इन प्रश्नों का समाधान खोजा जाए, तब क्रिया और कर्म को एक नहीं मानकर, दोनों को अलग-अलग मानना होगा और ऐसा करने पर, सम्भवतः उन समस्याओं का, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, समाधान हो जायेगा। जो क्रिया जीव की शुद्ध अवस्था में होती है वह 'क्रिया' है और जो क्रिया अशुद्ध अवस्था में होती है वह 'कर्म' है, क्योंकि अशुद्ध अवस्था में जो चैतन्य परिणमन होता है वह चैतन्य तथा उससे सम्बद्ध पुद्गल, इन दोनों में होता है जो कि पुद्गलमय चैतन्य परिणमन है। इसलिए पुद्गलमय चैतन्य परिणमन की क्रिया को 'कर्म' कहा है और कर्म को पुद्गल, क्योंकि वह परिणमन पुद्गल में होता है तथा पुद्गल में परिणमन होने से, पुद्गल के परिणमन के निमित्त से चेतना या जीव में परिणमन होता है। किन्तु शुद्ध पुद्गल या जीव से भिन्न पुद्गल में भी परिवर्तन होता है जो कि क्रिया से ही सम्भव है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि शुद्ध जीव में होने वाली क्रिया, 'क्रिया' है? अतः यहां यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि 'क्रिया' स्वयं अपने आप में क्या हैं? वह जीव और पुद्गल का 'गुण' है 'पर्याय'? क्रिया को न तो 'गुण' माना जा सकता है और न ही 'पर्याय'। इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ऐसी स्थिति में क्रिया की सत्ता को कैसे माना जा सकता है, क्योंकि जगत् में 'गुणों' अथवा 'पर्यायों' के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं है।

अन्त में, संक्षेप में कहा जा सकता है कि चैतन्य परिणमन ही 'उपयोग' है, जिसके दो रूप हैं—ज्ञान रूप चैतन्य परिणमन और दर्शन रूप चैतन्य परिणमन। चैतन्य-परिणमन के इन दोनों रूपों के स्वभाव और विभाव के भेद से क्रमशः दो-दो प्रकार हैं—स्वभाव ज्ञान रूप चैतन्य परिणमन और विभाव ज्ञान रूप चैतन्य परिणमन तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव दर्शन रूप चैतन्य परिणमन और विभाव दर्शन रूप चैतन्य परिणमन। चैतन्य परिणमन के ये रूप जीव की शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाओं में रहते हैं, किन्तु अशुद्ध अवस्था में चेतना या चैतन्य परिणमन तीन रूपों में रूपांतरित होता है—ज्ञान में, कर्म में और कर्म फल में।

सन्दर्भ

१. (क) **प्रवचनसार**, गाथा २.६३, **कुन्दकुन्द-भारती** में संकलित, श्रुत भंडार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन, प्रथमावृत्ति, १९७०
(ख) **नियमसार**, गाथा १०, **कुन्दकुन्द-भारती** में संकलित, श्रुतभंडार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन, प्रथमावृत्ति, १९७०
(ग) **पंचास्तिकाय**, गाथा ४०, **कुन्दकुन्द-भारती** में संकलित, श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन, प्रथमावृत्ति, १९७०

२. **पंचास्तिकाय संग्रह-समयव्याख्या** संस्कृत टीका, गाथा ४० की टीका, पृ. ७५; साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर, पंचम संस्करण, १९९०

३. **जैन-दर्शन**, पृ० ११०, डॉ० महेन्द्र कुमार जैन, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला, अस्सी, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९७४

४. (क) **पंचास्तिकाय**, गाथा ४१ व ४२
(ख) **नियमसार**, गाथा ११ से १४

५. **नियमसार**, गाथा १०

६. समस्त ज्ञानावरण के समूल नाश होने पर प्रकट होने वाला निरावरण ज्ञान "केवल ज्ञान" है। कुन्दकुन्द के अनुसार वह ज्ञान जो आत्मा के समस्त कर्मों के नाश होने पर प्रकट होता है तथा तीनों कालों के समस्त द्रव्यों को मूर्त-अमूर्त को, चेतन-अचेतन को, उत्पन्न-अनुत्पन्न को और नष्ट पर्यायों को बिना किसी साधन या माध्यम से पूर्णत: प्रत्यक्ष रूप से एक साथ जानता है, 'केवलज्ञान' है।

७. **नियमसार**, गाथा ११

८. (क) **वही**, गाथा ११ व १२
(ख) **पंचास्तिकाय**, गाथा ११ व ४१

९. यहां 'दर्शन' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है, यह कहना कठिन है, किन्तु दर्शनोपयोग के आधार पर कहा जा सकता है कि यहां 'दर्शन' का तात्पर्य देखने से है।

१०. **नियमसार**, गाथा १३

११. **वही**, गाथा १३ व १४

१२. **प्रवचनसार**, गाथा २.३१

१३. **वही**, गाथा २.३२

१४. (क) **वही**, गाथा २.३२
(ख) **भावपाहुड**, गाथा ७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. **प्रवचनसार**, गाथा २.४४, २.६५, २.६६
१६. (क) **वही**, गाथा १.७, १.११
(ख) **पंचास्तिकाय**, गाथा २७
१७. **प्रवचनसार**, गाथा २.३२
१८. **पंचास्तिकाय**, गाथा ८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरापंथ में प्राकृत-साहित्य का उद्भव और विकास

मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'

संस्कृत की तरह प्राकृत का इतिहास भी बहुत प्राचीन है। इसीलिए कहा गया है—"सक्कता पागता चेव पसत्था इसिभासिया"—संस्कृत और प्राकृत ये दोनों भाषाएं प्रशस्त और ऋषिभाषित हैं। दोनों भाषाएं समृद्ध और विशाल हैं। दोनों में वर्णित विषयों की शृंखला बहुत लम्बी है। प्राचीन इतिहास, संस्कृति और परम्परा का ज्ञान करने के लिए संस्कृत और प्राकृत का ज्ञान अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य है। हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के अध्ययन से सौ-दो सौ अथवा पांच सौ वर्षों तक का इतिहास जाना जा सकता है किन्तु हजारों-लाखों वर्ष प्राचीन इतिहास और संस्कृति का ज्ञान करने के लिए संस्कृत और प्राकृत—दोनों का अध्ययन जरूरी है।

जैन आगम तथा अनेक आगमेतर ग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं। उनका मूलस्पर्शी ज्ञान करने के लिए भी प्राकृत का ज्ञान जरूरी है। तेरापंथ धर्मसंघ में प्राकृत भाषा के ज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न रही है। तेरापंथ के आदि प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु से लेकर गणाधिपति श्री तुलसी तथा वर्तमान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तक प्राकृत भाषा का स्रोत अजस्र गति से निर्बाध चलता रहा है। पूर्व आचार्यों का प्राकृत ज्ञान व्याकरण पर आधारित न भी रहा हो किन्तु उसके मूल हार्द को ग्रहण करने में उनकी अर्हता सदा ऊर्ध्वमुखी रही है। उन्होंने अपनी सूक्ष्म मेधा से प्राकृत भाषा में निबद्ध आगमों के मूल को पकड़ने में सफलता प्राप्त की।

एक बार आचार्य भिक्षु के पास संस्कृत भाषा का ज्ञाता एक पंडित आया। उसने आचार्य भिक्षु से पूछा—आप संस्कृत जानते हैं या नहीं? आचार्य भिक्षु ने कहा—संस्कृत का अध्ययन तो नहीं किया। पंडित ने कहा—जब संस्कृत नहीं जानते तो आगमों का अध्ययन और अर्थ कैसे करते हैं? आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया—हम संस्कृत के बिना मूल प्राकृत के आधार पर ही आगमों का अर्थ करते हैं। पंडित ने अपनी बात पर जोर देते हुए कहा—संस्कृत के बिना आगमों का सही अर्थ करना संभव ही नहीं है। आचार्य भिक्षु ने पूछा—'कयरे मग्गे अक्खाया'—इसका क्या अर्थ होता है? पंडित एक बार तो असमंजस में पड़ गया। प्राकृत भाषा का ज्ञान उसे था नहीं। संस्कृत के आधार पर अर्थ निकालने में समर्थ नहीं हुआ। फिर भी जैसे-तैसे उसने अर्थ करते हुए कहा—कयरे अर्थात् केर, मग्गे अर्थात् मूंग और अक्खाया अर्थात् आखा। राजस्थानी में अक्षत को आखा कहते हैं। पंडित बोला—इसका तो सीधा सा अर्थ है—केर, मूंग और आखा। आचार्य भिक्षु बोले—आगम में तो इसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ ऐसा नहीं है। वहां तो इसका अर्थ ऐसे है—कयरे अर्थात् कितने, मग्गे अर्थात् मार्ग और अक्खाया अर्थात् बताए गए हैं। सन्दर्भ के अनुसार भगवान् ने कितने मार्ग बताए हैं, यही इसका सीधा और सही अर्थ है। पंडित ने आचार्य भिक्षु के प्राकृत ज्ञान को स्वीकार किया·····।

आचार्य भिक्षु ने अपनी सैद्धांतिक कृतियों में आगमिक सन्दर्भों का भरपूर उपयोग किया है। उनका पारायण करने से ऐसा लगता है मानो उनमें आगमों का निर्यूहण किया गया हो। आगम प्रमाणों के कारण जहां उनकी प्रमाणवत्ता सिद्ध होती है वहां आचार्य भिक्षु के प्रौढ़ और परिपक्व प्राकृत ज्ञान की भी झलक मिलती है।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य का आगम ज्ञान भी पुष्ट और परिपक्व था। उनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से प्राकृत प्रज्ञा का चमत्कार लक्षित होता है। उन्होंने अनेक आगमों की राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध व्याख्याएं लिखी। प्राकृत भाषा के मूलस्पर्शी ज्ञान से ही वैसा संभव हो सका।

आगम ग्रन्थों में 'भगवई' सबसे अधिक बड़ा और विशाल है। विषयों की दृष्टि से यह एक विशाल उदधि है। जयाचार्य ने इस महत्त्वपूर्ण और विशाल आगम ग्रन्थ का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद किया। इसका नाम है—भगवती की जोड़। इसमें मूल के साथ टीका ग्रन्थों का भी अनुवाद है। वार्तिक के रूप में अपने मन्तव्यों को बड़ी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें विभिन्न लयों में ५०१ ढालें तथा कुछ अन्तर ढालें हैं। ४१ ढालें सिर्फ दोहों में हैं। ग्रन्थ में ३९२ रागिनियां प्रयुक्त हैं। इसमें ४९९३ दोहे, २२२५४ गाथाएं, ६५५२ सोरठे, ४३१ विभिन्न छन्द, १८८४ प्राकृत-संस्कृत पद्य, ७४४९ पद्य परिमाण, ११९० गीतिकाएं, ९३२९ पद्य परिमाण, ४०४ यंत्र चित्र आदि हैं। इसका अनुष्टुप पद्य परिमाण ग्रन्थाग्र ६०९०६ है। इसके रचनाक्रम में जयाचार्य बोलते जाते और साध्वीप्रमुखा महासती गुलाब उसे लिपिबद्ध करती जाती। समुद्रमंथन के समान इस ग्रन्थ की रचना का जितना महत्त्व है उतना ही महत्त्व इसके सम्पादन का है। भगवती के मूलपाठ, वृत्ति और व्याख्या—इन तीनों का समन्वयपूर्ण सामंजस्य करने में काफी समय, श्रम और शक्ति का नियोजन अपेक्षित है। गणाधिपति श्री तुलसी के कुशल निर्देशन में इसका सम्पादन साध्वी-प्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने किया है।

भगवती की जोड़ के अतिरिक्त जयाचार्य ने अन्य आगमों की भी राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध व्याख्याएं लिखी हैं। वे हैं—

उत्तराध्ययन की जोड़
आचारांग (प्रथम) की जोड़
आचारांग (द्वितीय) रो टब्बो
ज्ञाता री जोड़
निशीथ री जोड़
अनुयोगद्वार री जोड़ (अपूर्ण)
पन्नवणा री जोड़ (१० पद तक)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपाक री जोड़ (अपूर्ण)

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ और ग्रन्थ भी हैं जिन्हें राजस्थानी में आगम भाष्य कहा जा सकता है। वे हैं—

चौरासी आगमाधिकार
निशीथ री हुंडी
बृहत्कल्प री हुंडी
व्यवहार री हुंडी
भगवती री संक्षिप्त हुंडी

जयाचार्य ने कुछ तात्त्विक कृतियों की रचना भी की। उनमें भी आगमों का पर्याप्त दोहन हुआ है। कइयों में तो आगमसाक्षियों के साथ पूरे पाठ उनके अर्थ और विवेचन के साथ दिए गए हैं। आगमों के संकेत निर्देश तो सर्वत्र उपलब्ध हैं। उनमें प्रमुख हैं—

भ्रम विध्वंसन
प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध
बृहत् प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध
जिनाज्ञा मुखमंडन
कुमति विहंडन
सन्देह विषौषधि
प्रश्नोत्तर सार्ध शतक
लघु सिद्धान्त सार

उक्त कृतियां जयाचार्य के प्राकृत और संस्कृत—दोनों भाषाओं के अगाध ज्ञान का संकेत देती हैं।

तेरापंथ के दूसरे आचार्यश्री भारमलजी के कार्यकाल में मुनि जीवोजी ने ग्यारह आगमों पर पद्यबद्ध व्याख्याएं लिखीं। आकार-प्रकार की दृष्टि से लघु होने के कारण उनका अधिक प्रसार नहीं हो पाया। फिर भी उनका आगमिक प्राकृत भाषा का ज्ञान उनसे प्रकट होता है।

तेरापंथ में अनेक आगमज्ञ मुनि हुए हैं। उनका प्राकृत भाषा पर अच्छा अधिकार रहा है। अध्ययन-अध्यापन में भी प्राकृत का उपयोग होता रहा है। साधुओं की तरह साध्वियों में भी इसके अध्ययन का क्रम विकसित हुआ है। संस्कृत की तरह यह बोलचाल की भाषा न भी हो किन्तु ज्ञान और अनुसन्धान की दृष्टि से कोई कमी भी नहीं रही है।

सन् १९५४ में गणाधिपति श्री तुलसी बम्बई में चतुर्मास-यापन कर रहे थे। उस समय अमरीका के पेनेस्लीविया युनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० नोर्मन ब्राउन गणाधिपति के सान्निध्य में उपस्थित हुए। वे संस्कृत और प्राकृत भाषा के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने निवेदन किया—मैंने संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में अनेक वक्तव्य सुने हैं किन्तु भगवान् महावीर की प्राकृत भाषा में कभी किसी का वक्तव्य नहीं सुना। यदि आपके पास उस प्रकार का वक्तव्य सुनने को मिले तो मुझे अतिरिक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसन्नता होगी। गणाधिपति ने आचार्य महाप्रज्ञ उस समय (मुनिश्री नथमल) को संकेत किया। उन्होंने सामान्य बोलचाल की भाषा की तरह प्राकृत में वक्तव्य देकर सबको विस्मय में डाल दिया। डॉ० नोर्मन ब्राउन बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा— भगवान् महावीर की ढाई हजार वर्ष प्राचीन भाषा में प्रवचन सुनकर मेरी वर्षों की इच्छा पूरी हुई है। इस प्रकार तेरापंथ धर्मसंघ में प्राकृत को फलने-फूलने का अवसर निरन्तर मिलता रहा है।

आगम-सम्पादन

भगवान् महावीर की वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने उसे सूत्र रूप में गूंथा। आगम के दो विभाग हो गए—सूत्रागम और अर्थागम। पहले आगम लिखने की परम्परा नहीं थी। सारा वाङ्मय स्मृति पर आधारित था।

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में पाटलिपुत्र में बारह वर्षों के दुर्भिक्ष आदि कारणों से श्रमण संघ छिन्न-भिन्न होने लगा। अनेक बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्ग-वासी हो गए। आगमज्ञान की शृंखला टूट सी गई। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर पुनः संघ मिला। आगमों का संकलन किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का ज्ञाता भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई नहीं था। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलभद्र को दस पूर्व तक वाचना दी गई। बहिनों को चमत्कार दिखाने के कारण उनको आगे वाचना देना बन्द कर दिया गया। फिर बहुत आग्रह से चार पूर्व की वाचना तो दी पर अर्थ नहीं बताया। इस कारण पाठ की दृष्टि से स्थूलभद्र अन्तिम श्रुतकेवली हुए। भद्रबाहु के पश्चात् अर्थ की दृष्टि से दस पूर्व का ज्ञान शेष रहा। यहीं से आगम विच्छेद का क्रम शुरू हो गया। वज्रस्वामी के उत्तराधिकारी आर्यरक्षित हुए। वे नौ पूर्व पूर्ण और दसवें पूर्व के २४ यविक जानते थे। आर्यरक्षित के शिष्य-दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नौ पूर्वों का अध्ययन किया किन्तु अभ्यास के बिना वे नौवें पूर्व को भूल गए। इस प्रकार विस्मृति का क्रम आगे बढ़ता गया।

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ और ८४० के बीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा में हुआ इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में आगम संकलित हुए। उसे वल्लभी-वाचना या नागार्जुनीय वाचना कहा जाता है।

आगम-वाचना और संकलन का तीसरा प्रयत्न वीर :— निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमण संघ मिला। उस समय भी द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुत सारे बहुश्रुत मुनि काल कवलित हो गए थे। अन्य मुनियों की संख्या भी बहुत कम थी। इस कारण श्रुत की स्थिति चिन्तनीय थी। क्रमशः उसकी विस्मृति हो रही थी। देवर्द्धिगणी ने अवशिष्ट बहुश्रुत मुनियों तथा श्रमण संघ को एकत्रित किया। उन्हें जो श्रुत कंठस्थ था उसे सुनकर लिपिबद्ध किया गया। आगमों के अनेकों आलापक न्यूनाधिक और छिन्न-भिन्न मिले। उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी ओर से उन सबका संकलन और सम्पादन कर पुस्तकारूढ कर लिया। देवर्द्धिगणी एक पूर्वधर थे। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई।

वर्त्तमान में सहस्राब्दियों बाद गणाधिपति श्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में पुनः जैनागमों के सम्पादन और अनुवाद का उपक्रम प्रारंभ हुआ। ढाई हजार वर्ष प्राचीन आगमों के सम्पादन कार्य सहज नहीं था। उस समय की भाव-भाषा और आज की भावभाषा में बहुत बड़ा व्यवधान आ गया था। शब्दों के अर्थ में भी अनेक प्रकार के उत्कर्ष-अपकर्ष आ चुके थे। इस स्थिति में आगम सम्पादन का कार्य कितना दुरूह होता है इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। देवर्द्धिगणी द्वारा अपनाई गई आगमों की संक्षेपीकरण की शैली, परम्परा भेद, लिपिगत समस्याएं, मूलपाठ और व्याख्या का सम्मिश्रण, व्याख्या का पाठ रूप में परिवर्तन आदि अनेक कारण ऐसे थे जिनके कारण अनेक नये क्षेपक हो गए। अनेक स्थलों पर पाठों का विलय हो गया। इन समग्र कठिनाइयों को पार करते हुए गणाधिपति श्री तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ के निर्देशन में आगमों का जिस प्रकार से सम्पादन हुआ, उसका समग्र विद्वज्जगत् में समादर हुआ।

आगमों के पाठ-संशोधन में लगभग बीस वर्ष लगे। तीस आगमों का संशोधित संस्करण प्रकाश में आ चुका है। पाठ-संशोधन की योजना में निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि—इन सबका पाठ संशोधन सम्मिलित है। व्यवहार भाष्य का भी कार्य हो चुका है। आगमों के मूलपाठ की ग्रन्थमाला का, अब तक जो कार्य हो चुका है और जो आगम ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१. अंगसुत्ताणि, भाग १
(आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)

२. अंगसुत्ताणि भाग २
(भगवई—विआहपण्णत्ती)

३. अंगसुत्ताणि भाग ३
(नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुयं)

४. उवंगसुत्ताणि भाग ४, खंड १
(ओवाइयं, रायपसेणइयं, जीवाजीवाभिगमे)

५. उवंगसुत्ताणि भाग ४, खंड २
(पण्णवणासुत्तं, जंबूदीवपण्णत्ती, चंद पण्णत्ती, सूरपण्णत्ती, निरयावलियाओ, कप्पवडिंसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हिदसाओ)

६. नवसुत्ताणि भाग ५
(आवस्सयं, दसवेआलियं, उत्तरज्झयणाणि, नंदी, अणुओगदाराइं, दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहज्झयणं)

कुछ निर्युक्तियों का पाठ संशोधन हो चुका है। वे हैं—
सूत्रकृतांग निर्युक्ति दशाश्रुत स्कन्ध निर्युक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग निर्युक्ति	पिंड निर्युक्ति
दशवैकालिक निर्युक्ति	व्यवहार निर्युक्ति
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	निशीथ निर्युक्ति

आवश्यक निर्युक्ति और ओघ निर्युक्ति का कार्य चल रहा है। अंगसुत्ताणि के तीनों भागों की शब्दसूची 'आगम शब्दकोश' में सप्रमाण प्रकाशित हुई है। शेष इक्कीस आगमों की शब्दसूचियां उन-उन आगमों में संलग्न हैं।

पाठ संशोधन के अतिरिक्त आगमों का टिप्पण सहित हिन्दी अनुवाद और सम्पादन का कार्य भी द्रुतगति से चला। इस दृष्टि से सम्पादित होकर अब तक जो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, वे हैं—

दसवेआलियं	सूयगडो भाग १,२
उत्तरज्झयणाणि	ठाणं
आयारो	समवाओ

भगवई के दो ग्रन्थ तैयार हैं, तीसरे का कार्य चल रहा है।

इनके अतिरिक्त दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन तथा उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन—ये दो अनुशीलन मूलक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। धर्म प्रज्ञप्ति खंड १ (दशवैकालिक वर्गीकृत), धर्म प्रज्ञप्ति खंड २ (उत्तराध्ययन वर्गीकृत) भी प्रकाश में आ चुके हैं। सुधी अध्येताओं के लिए इससे अध्ययन और शोध की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकती है। गणाधिपति और आचार्यश्री के अतिरिक्त मुनिश्री सुमेरमल 'सुदर्शन', मुनिश्री मधुकर, मुनिश्री हीरालाल, मुनिश्री श्रीचन्द, मुनिश्री दुलहराज आदि का विशिष्ट योगदान इस कार्य में रहा है।

प्राकृत व्याकरण (तुलसी मंजरी)

प्राकृत भाषा संस्कृत से पूर्व है या उत्तर—यह विषय बहुत चर्चित रहा है। यदि पाणिनि का व्याकरण संस्कृत भाषा का मानदंड है तब संस्कृत प्राकृत से पूर्ववर्ती नहीं है। वैदिक संस्कृत और प्राकृत—दोनों समवयस्क हैं। अतः उनमें पौर्वापर्य नहीं खोजा जा सकता। आगमों में कहा है—भगवं चणं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ—तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में अपना प्रवचन करते हैं। इस सन्दर्भ से प्राकृत की कालमर्यादा कम से कम तीन हजार वर्ष की है। ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीर ने जिस प्राकृत में प्रवचन किया था उस भाषा के विकास में कम से कम पांच सौ वर्ष तो लगे होंगे।

प्राकृत साहित्य ढाई हजार वर्ष पुराना उपलब्ध है। आयारो के विषय में कहा गया है कि वह प्राचीनतम आगम है। महावीर की मूलवाणी उसमें उपलब्ध है। प्राकृत व्याकरण के विषय में आगम-साहित्य में उल्लेख तो है पर कोई भी आगम कालीन प्राचीन प्राकृत व्याकरण उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों का कालक्रम इस प्रकार है—

नाम	कर्ता	रचनाकाल
१. प्राकृत लक्षण	चण्ड	ई. २-३ शताब्दी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. प्राकृत प्रकाश	वररुचि	ई. ३-४ शताब्दी
३. प्राकृत शब्दानुशासन	पुरुषोत्तम	ई. १२वीं शताब्दी
४. सिद्ध हेम शब्दानुशासन	आचार्य हेमचन्द्र	ई. १२वीं शताब्दी
५. प्राकृत शब्दानुशासन	त्रिविक्रम	ई. १३वीं शताब्दी
६. प्राकृत कल्पतरु	राम शर्मा तर्कवागीश	ई. १५वीं शताब्दी
७. प्राकृत रूपावतार	सिंहराज	ई. १५-१६वीं शताब्दी
८. षड्भाषा चन्द्रिका	लक्ष्मीधर	ई. १६वीं शताब्दी
९. प्राकृत चन्द्रिका	शेष कृष्ण	ई. १६वीं शताब्दी
१०. प्राकृत मणि दीप	अप्पय दीक्षित	ई. १६वीं शताब्दी
११. प्राकृत सर्वस्व	मार्कण्डेय	ई. १६वीं शताब्दी
१२. जैन सिद्धांत कौमुदी	मुनि रत्नचन्द	ई. १७वीं शताब्दी
१३. पिशेल का प्राकृत व्याकरण	आर. पिशेल	ई. १९वीं शताब्दी

इन प्राकृत व्याकरणों में वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' और आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण (सिद्धहेमशब्दानुशासन का आठवां अध्याय) दोनों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश और पैशाची के अध्ययन की दृष्टि से मार्कण्डेय का प्राकृत-सर्वस्व भी अत्यन्त उपयोगी है। आधुनिक भाषा शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से डॉ. आर. पिशेल का प्राकृत व्याकरण सर्वाधिक उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'तुलसी मंजरी' गणाधिपति श्री तुलसी के नाम पर आचार्यश्री महाप्रज्ञ की कृति है। इसका रचनाकाल वि. सं. १९९८ है। यह आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण की एक बृहत् प्रक्रिया है। अष्टाध्यायी का क्रम विद्यार्थी के लिए सहजगम्य नहीं होता। उसके लिए प्रक्रिया का क्रम अधिक उपयोगी होता है। प्रक्रिया में शब्दों के सिद्धिकारक सूत्र पास-पास मिलने से विद्यार्थी को समझने में सुगमता होती है। उदाहरण स्वरूप प्राकृत का एक शब्द है 'मरहट्ठं।' इसका संस्कृत रूप है 'महाराष्ट्रं।' मरहट्ठं शब्द को सिद्ध करने के लिए आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दो सूत्र लम्बे व्यवधान पर हैं—१।६९ और २।११९। तुलसी मंजरी में वे दोनों सूत्र पास-पास में—सूत्र १३६,१३७ हैं।

इस कृति में अपेक्षित टिप्पण भी दिए गए हैं। सूत्रों में आगत प्राकृत शब्दों की संस्कृत छाया भी दी गई है। प्रक्रिया की दृष्टि से सन्धि-प्रकरण, स्वरान्त पुल्लिग, स्वरान्त स्त्रीलिंग, स्वरान्त नपुंसक लिंग, युष्मदस्मत् प्रकरण, अव्यय प्रकरण, स्त्री प्रत्यय प्रकरण, कारक प्रकरण, समास प्रकरण, तद्धित प्रकरण, लिंगानुशासन, गणप्रकरण, जिन्नन्त प्रकरण, भावकर्मप्रक्रिया प्रकरण, कृदन्त प्रकरण आदि के रूप में सूत्रों का वर्गीकरण किया गया है। तुलसी मंजरी का हिन्दी अनुवाद भी तैयार किया हुआ है किन्तु वह प्रकाशित नहीं है। इसके सात परिशिष्ट हैं—

१. अकारादिक्रमेण सूत्राणि	५. देशी धातवः
२. प्राकृत शब्द रूपावलिः	६. आर्ष प्रयोगाः
३. धातु रूपावलिः	७. गणाः
४. धात्वादेशाः	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरापंथ धर्मसंघ में इसके माध्यम से प्राकृत भाषा के अध्ययन-अध्यापन का क्रम चालू है। विद्यार्थियों के अध्ययन की सुविधा के लिए इसके सम्पादन में मुनिश्री श्रीचन्द 'कमल' ने उल्लेखनीय परिश्रम किया है।

आगम शब्दकोश

जैन आगमों में विशाल ज्ञानराशि भरी हुई है। उसका उपयोग बहुत कम हुआ है। वैज्ञानिक दृष्टि से उस पर अन्वेषण और अनुसन्धान भी लगभग नहीं की तरह हुआ है। वर्तमान सन्दर्भ में उसे उपेक्षित ज्ञान राशि कहा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। कुछ कार्य भी प्रारंभ हुआ किन्तु अत्याधुनिक साहित्य के अभाव में कार्य करने की पर्याप्त सुविधा अभी तक नहीं है। आधुनिक शैली में काम करने के लिए सबसे पहली अपेक्षा शब्द-कोश की है। जैन आगमों की भाषा प्राकृत है। प्राकृत के अनेक शब्दकोशों में सिर्फ दो प्राचीन शब्दकोश वर्तमान में उपलब्ध हैं। उनमें पहला है—कवि धनपाल का पाइअलच्छिनाममाला और दूसरा है आचार्य हेमचन्द्र रचित देशी नाममाला। पर उनके आधार पर आगम सूत्रों का अनुसन्धान कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता। उनकी उपयोगिता अवश्य है पर वे पर्याप्त नहीं हैं।

वर्तमान में प्राकृत का एक शब्दकोश है पं. हर गोविन्ददास का 'पाइय सद्द-महण्णवो।' दूसरा है स्थानकवासी मुनि रतनचन्दजी का 'अर्धमागधी शब्दकोश।' तीसरा है राजेन्द्रसूरि का 'अभिधान राजेन्द्रकोश।' पाइय सद्दमहण्णवो प्राकृत भाषा का एक अच्छा शब्दकोश है। इस कोटि का दूसरा प्राकृत शब्दकोश वर्तमान में उपलब्ध नहीं है पर इस वास्तविकता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें आगमों के लगभग पचास प्रतिशत शब्द संगृहीत किए गए होंगे। जो शब्द ग्रहण किए गए हैं उनमें भी अनेक शब्द अशुद्ध हैं। उक्त शब्दकोश में प्रमाण स्थल भी प्रायः एक-एक दिया गया है। शोधकर्ताओं के लिए समस्त प्रमाण स्थलों का निर्देश अपेक्षित है। उनमें निरुक्त और सन्दर्भ पाठ भी नहीं दिए गए हैं।

अर्धमागधी कोश में पाइयसद्दमहण्णवो की तरह वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है। अभिधान राजेन्द्रकोश आकार में बहुत बड़ा है किन्तु उसका प्रकार वैज्ञानिक नहीं है। इस प्रकार तीनों कोशों के होते हुए भी आगम अनुसन्धान में उपयोगी बन सके, ऐसे आगम शब्दकोश की अपेक्षा निरन्तर महसूस की जाती रही। प्रस्तुत आगम शब्दकोश उस अपेक्षापूर्ति का ही एक उपयोगी उपक्रम है। इसका नाम आगम शब्दकोश है अतः स्पष्ट है कि यह प्राकृत शब्दकोश न होकर इसकी सीमा में आगम साहित्य ही सम्मिलित है।

ई. सं. १९५५ में जब से आगम सम्पादन कार्य का प्रारंभ हुआ, उस समय भी आगम शब्दकोश की परिकल्पना थी किन्तु संशोधित आगम सूत्र उपलब्ध नहीं थे। अतः उस समय यद्यपि आगमों की शब्दसूचियां तैयार कर ली गई थी किन्तु अपरि-शोधित पाठ के कारण वे उपयोगी सिद्ध नहीं हुई। सन् १९८० में पाठ संशोधन का कार्य जब पूरा हुआ तब पूर्वकृत शब्दसूचियों को शब्दकोश में बदलने की आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीत हुई। इस श्रमसाध्य और दुरूह कार्य को मुनिश्री श्रीचन्दजी 'कमल' ने सम्पन्न किया। वैज्ञानिक दृष्टि एवं वर्तमान तकनीक से परिपूर्ण यह शब्दकोश शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

एकार्थक शब्दकोश

जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में शब्दकोशों की रचना की। उनमें अभिमान चिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल और हेमचन्द्र के नाम इसके लिए आदरपूर्वक लिए जा सकते हैं। यद्यपि सभी कोशकारों की रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं फिर भी कवि धनपाल की 'पाइयलच्छीनाममाला' प्राकृत भाषा का एक विश्रुत कोश है। यह पद्यबद्ध है। इसमें कुल २७५ गाथाएं और ९९८ शब्दों के पर्यायवाची शब्द संगृहीत हैं।

एकार्थक शब्द अपने प्रतिपाद्य विषय को सुव्यवस्थित रूप से निर्धारित करते हैं। एकार्थवाची शब्दों द्वारा विद्यार्थी को बहुश्रुत बनाया जा सकता है एवं प्रतिपाद्य विषय के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन भी व्यवस्थित रूप से किया जाता है। एकार्थक शब्द का अभिप्राय वस्तुतः समानार्थक से है। किसी भी विषय के विभिन्न पहलुओं के स्वरूप समानार्थक अनेक शब्दों द्वारा सरलता से समझाए जा सकते हैं। एक ही विषय के लिए विभिन्न देशों और प्रांतों में विभिन्न शब्द प्रयुक्त होते हैं। एकार्थक कोश में उन सब शब्दों का संकलन किया जाता है। इसके विभिन्न क्षेत्रों के प्रशिक्षु अपनी-अपनी भाषा में उस विषय को ऐसे कोश के माध्यम से स्पष्ट रूप से समझ लेते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ आगम कल्पवृक्ष की एक उपशाखा है। जैसे-जैसे समय बीता वैसे-वैसे आगमवृक्ष का विस्तार होता गया। आगम शब्दकोश के विशाल कार्य में एकार्थक शब्द, निरुक्त, देशी शब्द आदि का पृथक् वर्गीकरण किया गया। इस आधार पर उस महान् कोश में से प्रस्तुत कोश का अवतरण हो गया।

इस कोश में मूल एकार्थक १४९७ हैं। लगभग २०० अवान्तर एकार्थ मिलाने से लगभग १७०० एकार्थकों का यह संकलन है। प्रत्येक एकार्थक का अर्थनिर्देश और प्रमाण दिया है। इसमें लगभग ८००० शब्दों का संकलन है। इस कार्य में अनेक साध्वियों, समणियों और मुमुक्षु बहिनों ने अपना योग दिया है। समणी कुसुम-प्रज्ञा ने इसे कोश का रूप दिया है। मुनिश्री दुलहराज की श्रम संयोजना और कल्पना ने भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

निरुक्त कोश

प्राचीन भारत में निरुक्तों की एक लम्बी परम्परा थी वैदिक और बौद्ध साहित्य में निरुक्त शब्दों पर कार्य हुआ है किन्तु आगम साहित्य पर इस प्रकार का कार्य नहीं हुआ था। समीक्षात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से इसमें कार्य करने का पर्याप्त अवकाश है फिर भी प्रारंभिक स्तर पर जिस सामग्री का संकलन हुआ है वह कम मूल्यवान् नहीं है।

निरुक्त के क्षेत्र में चौदह प्रयास हुए हैं। उनमें आचार्य यास्क द्वारा किया गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम प्रयास ही निरुक्त के रूप में उपलब्ध है। यास्क के पश्चाद्वर्ती आचार्यों में आचार्य शौनक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने निर्वचन के क्षेत्र में यास्क के कार्यों को आगे बढ़ाया। यास्क, पाणिनि से पूर्ववर्ती थे। उनकी निरुक्त पद्धति के कुछ निदर्शन प्राकृत साहित्य में उपलब्ध हैं यद्यपि वे उस समय के प्रचलित अर्थों के आधार पर किए गए हैं।

जैन आचार्यों ने निरुक्तों के माध्यम से विशेष शब्दों का निरुक्त कर निर्वचन विद्या की जो सेवा की है उसका एक स्पष्ट रूप प्रस्तुत निरुक्त कोश में हमारे सामने उभर आता है। इस कोश में १७५४ निरुक्त संगृहीत हैं। इसमें दो परिशिष्ट हैं। पहले परिशिष्ट में कृदन्तपरक निरुक्त हैं। ये सभी निरुक्त अनट् प्रत्यय से निष्पन्न हैं। इनकी वाक्य रचना संक्षिप्त है। इनकी एकरूपता शृंखलाबद्ध चले तथा अनुक्रम का सौन्दर्य सुरक्षित रह सके, इस दृष्टि से इन्हें मूल निरुक्तों से पृथक् परिशिष्ट-१ में रखा गया है। इनकी संख्या २०८ है। दूसरे परिशिष्ट में तीर्थंकरों के नामों के अन्वर्थ निरुक्त हैं। इससे चौबीस तीर्थंकरों के नामकरण की विशेष जानकारी मिलती है। इनकी संख्या २४ है। इस प्रकार इस कोश में १९८६ निरुक्त हैं। इनके पारायण से मूल शब्दगत अर्थ गरिमा को पकड़ने में सुविधा होगी तथा ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ प्राचीन ज्ञान वैभव को आत्मसात् किया जा सकेगा।

इस कोश के निर्माण कार्य में अनेक साध्वियों, समणियों और मुमुक्षु बहिनों ने अपना योग दिया है। साध्वी सिद्धप्रज्ञा और साध्वी निर्वाश्री ने इसे कोश का रूप दिया। मुनिश्री दुलहराज का श्रम सिंचन भी इस कार्य की निष्पत्ति में बहुत मूल्यवान् रहा है।

देशी शब्दकोश

भगवान् महावीर ने जनभाषा में प्रवचन किया। प्राकृत उस समय की जन-भाषा थी। जनभाषा होने के कारण उसका लचीलापन बना रहा। वह किसी घेरे में नहीं बन्धी। इस कारण उसका सम्पर्क देशी शब्दों से बना रहा। देशी शब्द व्याकरण से बन्धे हुए नहीं हैं। प्राकृत का विशाल स्वरूप देशी शब्दों का भंडार है अतः उसके अध्ययन के लिए देशी शब्दों का अध्ययन बहुत आवश्यक है। उनके बिना प्राकृत भाषा संस्कृत आश्रित बन जाती है। देशी शब्दों का सम्बन्ध प्राचीनतम जन-भाषाओं से है। इस कारण प्रस्तुत देशी शब्दकोश में कुछ शब्द कन्नड़ और तमिल के भी हैं। मराठी आदि भाषाओं के तो हैं ही। उत्तर और दक्षिण की सभी भाषाओं के शब्द आगम साहित्य में मिलते हैं। कुछ शब्द यूनान आदि विदेशों की भाषाओं के भी हैं।

देशी शब्द सामान्यतया ग्राम्य या प्रांतीय अर्थ का वाचक है। निरुक्तकार आचार्य यास्क तथा पाणिनि ने देशी शब्द का प्रयोग प्रांत अर्थ में किया है। महाकवि बाण ने कादम्बरी, वात्स्यायन ने कामसूत्र, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस तथा धनंजय ने दशरूपक में नाना देशों में बोली जाने वाली भाषाओं को देशी भाषा कहा है।

अनुयोगद्वार में शब्दों को पांच भागों में विभक्त किया गया है। उनमें नैपातिक शब्दों को देशी के अन्तर्गत माना जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत में तीन प्रकार के शब्द माने गए हैं—रूढ़, यौगिक और मिश्र। इनमें रूढ़ शब्द देशी के अन्तर्गत आते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने देशी नाममाला में देशी शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है—जो शब्द व्याकरण ग्रन्थों में प्रकृति, प्रत्यय द्वारा सिद्ध नहीं हैं तथा जो शब्द लक्षण आदि शब्द शक्तियों द्वारा दुर्बोध हैं और अनादिकाल से लोकभाषा में प्रचलित हैं, वे सब देशी हैं। महाराट्र, विदर्भ आदि नाना देशों में बोली जाने वाली नाना भाषाएं होने से देशी शब्द अनन्त हैं।

त्रिविक्रम के अनुसार आर्ष और देशी शब्द विभिन्न भाषाओं के रूढ प्रयोग हैं अतः उनके लिए व्याकरण की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार समग्र विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि देशी शब्द का यह अर्थ नहीं कि वे शब्द जो देश विशेष में प्रचलित हों किन्तु वे सभी शब्द देशी हैं जिनका स्रोत संस्कृत में नहीं है चाहे फिर वे किसी देश या भाषा के क्यों न हों।

वर्तमान में देशी शब्दों का सबसे बड़ा कोश आचार्य हेमचन्द्र का देशी नाममाला के नाम से मिलता है। प्रस्तुत देशी शब्दकोश उस परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका निर्माण सहज, सुगम और वैज्ञानिक विधि से किया गया है। एक ही अर्थ के वाचक भिन्न शब्दों के सन्दर्भ में अन्य कोशों की भांति 'देखो' का निर्देश न कर पाठक की सुविधा के लिए उस शब्द का अर्थ वहीं दे दिया गया है। अन्यान्य कोशों में कहीं-कहीं एक शब्द का अर्थ देखने के लिए तीन-चार शब्द देखने पर भी अर्थ नहीं मिलता किन्तु प्रस्तुत कोश में सुविधा की दृष्टि से सभी शब्दों का अर्थ प्रायः उनके सामने ही दे दिया है।

इस देशी शब्दकोश के साथ दो परिशिष्ट भी संलग्न हैं। प्रथम परिशिष्ट अवशिष्ट देशी शब्दों का है। इसमें आगमेतर प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रन्थों के ३३८१ देशी शब्दों का समावेश है। दूसरा परिशिष्ट देशी धातुओं से सम्बन्धित है। इसमें १७४५ धातुएं हैं। सन्दर्भ सहित तथा बिना सन्दर्भ वाली दोनों प्रकार की धातुओं को साथ में ही रखा गया है। यह परिशिष्ट छोटा होते हुए भी व्याकरण एवं धातु ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

गणाधिपति श्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ के कुशल निर्देशन में लगभग पांच वर्षों के श्रम से सम्पादित यह देशी शब्दकोश विद्वानों और शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सामग्री बनकर सामने आया। साध्वी अशोकश्री, साध्वी विमलप्रज्ञा, साध्वी सिद्धप्रज्ञा तथा समणी कुसुमप्रज्ञा का मौलिक श्रम इसके साथ लगा है। मुनिश्री दुलहराज का योग भी इसके साथ जुड़ा है। इसकी शीघ्र सम्पूर्ति में यह बहुत बड़ा निमित्त बना है।

आयारो भाष्य

आगमों और निर्युक्तियों के आशय को स्पष्ट करने के लिए उनके भाष्य लिखे गए। अब तक दस भाष्य उपलब्ध हैं—

१. आवश्यक भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. दशवैकालिक भाष्य
३. उत्तराध्ययन भाष्य
४. बृहत्कल्प भाष्य
५. पंचकल्प भाष्य
६. व्यवहार भाष्य
७. निशीथ भाष्य
८. जीतकल्प भाष्य
९. ओघनिर्युक्ति भाष्य
१०. पिंडनिर्युक्ति भाष्य

बृहत्कल्प और ओघनिर्युक्ति पर दो-दो भाष्य और मिलते हैं—लघु भाष्य और बृहद् भाष्य। इनकी भाषा प्राकृत है। ये भी पद्यबद्ध हैं। विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प—ये आचार्य जिनभद्रगणी (वि. सातवीं शताब्दी) की रचनाएं हैं। बृहत्कल्प लघुभाष्य और पंचकल्प महाभाष्य—ये संघदासगणी (वि. छठी शताब्दी) की रचनाएं हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा लिखा गया जैनागम आयारो का भाष्य एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय ग्रन्थ है। आयारो पर निर्युक्ति, चूर्णि, टीका और टब्बा तो उपलब्ध होते हैं किन्तु उस पर भाष्य आज तक किसी ने नहीं लिखा। ढाई हजाई वर्षों में जो कार्य नहीं हुआ, वह आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा सम्पन्न हुआ। इससे साधना और आचार के अनेक नये रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। वर्तमान के सन्दर्भ में आगमों की प्रासंगिकता स्पष्ट हुई है। अध्यात्म के प्रति आस्था का दृढीकरण हुआ है.। यह भाष्य आयारो के मौलिक अर्थ का स्पर्श करने में सहायक सिद्ध होगा। इसका हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है।

गाथा

गाथा भगवान् महावीर के जीवनदर्शन, प्रासंगिक घटनाओं, कथाओं, रूपकों आदि का समन्वित संकलन ग्रन्थ है। गीता, धम्मपद और समणसुत्तं की श्रेणी के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की आयोजना योगक्षेम वर्ष में हुई। भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर निर्मित समणसुत्तं को जैन शासन के चारों सम्प्रदायों ने मान्यता प्रदान की किन्तु उसका मुख्य भाग दार्शनिक है और कुछ भाग आचार शास्त्रीय। उसमें धर्मकथानुयोग का भाग नहीं है। धर्मकथा के द्वारा कही हुई बात जनसाधारण के लिए भी ग्राह्य होती है और उसमें विद्वज्जनों का भी आकर्षण होता है। गाथा में धर्मकथानुयोग होने के कारण इसके प्रति सबकी मंगलभावनाएं रही हैं।

गणाधिपति श्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ के निर्देशन में तैयार इस ग्रन्थ में अनेक विषय हैं। वे सब अनेकांत और समता की परिधि में सिमटे हुए हैं। इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग जैसे एकांतवादी दृष्टिकोणों का समन्वय हुआ है। इसका नाम 'गाथा' है जिसका आधार सूयगडो का गाथा अध्ययन है। गाथा गेय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। लयबद्ध प्रत्येक कथ्य भी गेय बन जाता है। आत्मा की लय में प्रत्येक पद गाथा या गीत होता है इसलिए गाथा में प्रत्येक वक्तव्य की अर्हता है।

योगक्षेम वर्ष के शिक्षण और प्रशिक्षण का व्यस्त कार्यक्रम सामने था। उस स्थिति में किसी नये ग्रन्थ के निर्माण की सोचना भी अति साहस जैसा था। गणाधिपति श्री तुलसी ने अपनी संस्कारगत इच्छाशक्ति और संकल्पशक्ति के आधार पर इस कार्य का प्रारंभ किया। दिन में अवकाश के अभाव में रात्रि का समय इसके लिए निर्धारित हुआ। गणाधिपति श्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ गाथा के आधारभूत स्थलों का संकेत करते। उनके शिष्य उन्हें लिपिबद्ध करते। इस प्रकार और दो महीनों की स्वल्प अवधि में एक बृहद् ग्रंथ का प्रणयन और संपादन कार्य हो गया। साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने इसके सम्पादन के गुरुतर कार्य की सम्पूर्ति की।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में ४२ ग्रन्थों के संदर्भ प्रयुक्त हुए हैं। इसके परिशिष्टों से इस ग्रन्थ की उपयोगिता और अधिक बढ़ गई है।

प्राकृत वाक्यरचना बोध

प्राकृत के विशाल साहित्य को पढ़ने के लिए प्राकृत-भाषाओं का अध्ययन आवश्यक है। प्राकृत के परिवार में मागधी, पैशाची, शौरसेनी, चूलिकापिशाची, अपभ्रंश आदि भाषाओं का समावेश हो जाता है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता, तत्त्वविद्या, दर्शन और शिल्प का अध्ययन करने के लिए प्राकृत को पढ़ना अनिवार्य है।

प्राकृत के अनेक व्याकरण ग्रन्थ हैं। प्राचीन ग्रन्थों में आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण बहुत समृद्ध है। आधुनिक ग्रन्थों में डॉ. आर. पिशेल का 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' भाषा-विज्ञान और व्याकरण—दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। पर वे प्राकृत का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए सुगम और सुबोध नहीं हैं। इस बात को ध्यान में रखकर प्रवेशिकाओं की परम्परा का सूत्रपात हुआ। प्राकृत मार्गोपदेशिका, प्राकृत प्रवेशिका, प्राकृत प्रबोध आदि कृतियां इसी उद्देश्य से निर्मित हुई हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ की कृति—'प्राकृत वाक्यरचना बोध' उसी शृंखला की एक अग्रिम कड़ी है। व्याकरण के अनुरूप ही वाक्य-रचना की जाए तब भाषा सीखने में सुविधा होती है। प्रस्तुत कृति में उसी प्रकार हिन्दी से प्राकृत और प्राकृत से हिन्दी वाक्य रचना का क्रम दिया गया है। विभिन्न प्रकार के नये-नये शब्दों और धातुओं का भी यथास्थान बोध कराया गया है। इससे विद्यार्थी को प्राकृत भाषा में प्रवेश सम्बन्धी आने वाली अनेक कठिनाइयां स्वतः समाप्त हो जाती हैं।

इसमें सात परिशिष्ट हैं। पहले परिशिष्ट में प्राकृत की शब्द रूपावली है। दूसरे में प्राकृत की धातु रूपावली है। तीसरे में अपभ्रंश की शब्द रूपावली है। चौथे में अपभ्रंश की धातु रूपावली है। पांचवें में वर्गों के शब्द, अर्थ सहित हिन्दी के अकारादिक्रम से हैं। छठे में धातुएं, हिन्दी के अर्थ सहित अकारादि क्रम से हैं। सातवें में प्राकृत भाषा की समकालीन वैदिक-संस्कृत के साथ समानता दिखाई गई है। इसके सम्पादन में मुनिश्री श्रीचन्द 'कमल' का परिश्रम बहुत मूल्यवान् रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। प्राकृत भाषा में प्रवेश कराने वाली अब तक की कृतियों में यह श्रेष्ठ कृति कही जा सकती है।

जयत्थुई-प्राकृत रचना

तेरापंथ के चौथे आचार्य श्रीमज्जयाचार्य की स्तुति रूप में मुनिश्री कर्मचन्द द्वारा रचित 'जयत्थुई' तेरापंथ धर्मसंघ में प्राकृत भाषा की प्रथम रचना कही जा सकती है। इसमें सोलह गाथाएं हैं। इसमें शब्द लालित्य भाषा गांभीर्य, उपमा, अलंकार, अनुप्रास आदि का भी सम्यक् निदर्शन प्राप्त होता है। उदाहरण स्वरूप इसकी दो गाथाएं हैं—

परिग्रह वाऊ पुट्ठो मेरुव्व अप्पकंपओ।
सुहं वा जइ वा दुक्खं सहइ समचेयसा॥
सूरो व दित्त तेएणं ससीव सीयलो विऊ।
महोदहीव गंभीरो कुत्तियावण सारिसो॥

इसमें रचनाकाल अथवा रचनास्थल का उल्लेख नहीं है। अतः इसकी रचना कब हुई, यह प्रामाणिक रूप से कहना कठिन है किन्तु मुनिश्री कर्मचन्द ने जयाचार्य के आचार्यकाल में ही इसकी रचना की थी, ऐसा प्रतीत होता है।

अत्तकहा

शासन गौरव मुनिश्री बुद्धमल्ल की प्राकृत भाषा में द्वात्रिंशिका के रूप में निबद्ध एक कृति है—अत्तकहा। इसमें जीवनगत संस्कारों, विचारों, उपदेश आदि का सम्यग् निरूपण हुआ है। इसे एक अनुभव कृति कहा जा सकता है। अनुभव को व्यक्ति सीखता है, प्रेरणा प्राप्त करता है और वह दूसरों के लिए प्रेरक बन जाता है। प्रौढ़ और प्रांजल भाषा में रचित यह कृति पाठकों की प्रसक्ति और प्रेरणा का निमित्त बन सकेगी, यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा।

पाइयसंगहो

प्राकृत भाषा का अधिकांश साहित्य जैनों द्वारा रचित है। जैन तीर्थंकर प्राकृत अर्धमागधी में प्रवचन करते थे। उनकी वाणी का संग्रह आगम ग्रन्थों में ग्रथित हुआ है। श्वेताम्बर जैनों के आगम तथा उनके व्याख्याग्रन्थ निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य अर्धमागधी भाषा में रचित हैं। दिगम्बर जैन साहित्य षट्खंडागम, कषाय-पाहुड, समयसार आदि शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हैं।

प्राकृत भाषा के आर्ष ग्रन्थों में अध्यात्म, संस्कृति, इतिहास, लोकव्यवहार, तत्त्वदर्शन, गणित, भूगोल आदि की ज्ञानवर्धक सामग्री विद्यमान है किन्तु जनसाधारण की इस ओर रुचि कम होने के कारण इसके लाभ से लोग वंचित हैं। प्राकृत भाषा के अध्ययन के प्रति रुचि जागृत करने के लिए मुनिश्री विमलकुमार ने विभिन्न आगम ग्रन्थों का दोहन कर 'पाइयसंग्रहो' नामक इस कृति को तैयार किया है।

प्रस्तुत कृति में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, प्रश्न व्याकरण, स्थानांग, भगवती, दशाश्रुतस्कन्ध, ज्ञाताधर्मकथा, अंतकृद्दशा, राजप्रश्नीय आदि आगमों के सन्दर्भ दिए गए हैं। सन्दर्भों के नीचे तत्सम्बन्धी आगमों के प्रमाण भी दिए गए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे कृति की उपयोगिता बढ़ गई है। उक्त सन्दर्भों में प्रयुक्त शब्दों की व्याकरण द्वारा सिद्धि की गई है। कठिन शब्दों की टीका, चूर्णि के आधार पर एक सूची भी अन्त में दी गई है। इससे विद्यार्थियों को अध्ययन में काफी सुगमता हो गई है।

चरितकाव्य

प्राकृत भाषा में गद्य-पद्य काव्यों की भी एक लम्बी शृंखला रही है। उसमें चरितकाव्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन जैन मनीषियों और कवियों ने अनेक काव्यों की रचना की। वर्तमान में तेरापंथ धर्मसंघ में यह विद्या भी उदीयमान स्थिति में है।

'ललियंग चरियं' मुनिश्री विमलकुमार की प्राकृत भाषा में निबद्ध रचना है। ऐतिहासिक और पौराणिक कथानक के आधार पर सरल, सुबोध प्राकृत भाषा में गुम्फित यह रचना भविष्य की गति-प्रगति का शुभ संकेत देती है। राजकुमार ललितांग के जीवन चरित्र सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर इससे प्रकाश पड़ता है। अभ्यास रूप में लिखी गई यह रचना यह विश्वास पैदा करती है कि प्राकृत भाषा का स्रोत सर्वथा सूखा नहीं है। उसकी गति में मंथरता अवश्य आई है किन्तु उसे दूर करने की आशा की जा सकती है। इसी प्रकार बंकचूलचरियं, देवदत्ताचरियं, सुबाहुचरियं, मियापुत्तं और पएसिचरियं भी इसी कोटि की रचनाएं हैं। ये सभी अब तक अप्रकाशित हैं किन्तु प्रशिक्षुओं के लिए प्रेरक हैं। मुनि विमलकुमारजी का अध्यवसाय इनमें सहज मुखर होता है।

तेरापंथ में संस्कृत और प्राकृत साहित्य के उद्भव और विकास की संक्षिप्त प्रस्तुति इस निबन्ध में हुई है और उपलब्ध साहित्य का यथासंभव परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और इकीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में तेरापंथ धर्मसंघ ने संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय को विभिन्न नये उन्मेष प्रदान किए हैं। अतीत के सिंहावलोकन के आधार पर अनागत का योग और अधिक मूल्यवान् हो सकेगा, ऐसी आशंसा स्वाभाविक है। ●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत परम्परा

[] मुनिश्री कामकुमार नन्दी

भावश्रुत एवं द्रव्यश्रुत के भेद से श्रुत दो प्रकार के हैं। इनमें भाव की अपेक्षा श्रुत अनादि निधन है (न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी विनष्ट होगा) पर द्रव्यश्रुत-शास्त्र परम्परा कालाश्रित है। वह योग्य द्रव्य क्षेत्र काल में ज्ञानी, निर्ग्रन्थ, वीतरागी सन्तों द्वारा ज्ञान की प्रकर्षता में तथा बाह्य निर्विघ्नताओं में शास्त्र रचना के रूप में उत्पन्न भी होता है और ज्ञान की अप्रकर्षता तथा बाह्य विघ्न बाधाओं के कारण विनाश को भी प्राप्त होता है।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन (वर्तमान में जो वीरशासन जयन्ती के रूप में महान् पर्व माना जाता है) सूर्य के उदय होने पर रौद्र नामक मुहूर्त में चन्द्रमा के अभिजित् नक्षत्र पर होने पर तीनों लोकों के गुरु वर्द्धमान महावीर के धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई अर्थात् पांच पर्वतों से शोभायमान राजगृही नगरी के पास देव-दानवों से पूजित और सर्व पर्वतों में उत्तम एवं अत्यन्त चित्ताकर्षक विपुलाचल नामक पर्वत पर भगवान् महावीर ने भव्य जीवों को जीवादि पदार्थों का प्रथम उपदेश दिया।

भगवान् महावीर स्वामी का विश्वविख्यात राजगृही में विपुलाचल पर्वत पर १६ वार समवशरण हुआ था। इससे पूर्व बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान् के जन्म के कारण भी यह पञ्चशैलपुर-राजगिरि पवित्र है।

पञ्चशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना।

—हरिवंश पु० में जिनसेनाचार्य

गौतमगोत्री विप्रवर्णी चारों वेदों और षडंग विद्या के पारगामी शीलवान् और ब्राह्मणों में श्रेष्ठ वर्द्धमान स्वामी के प्रथम गणधर इन्द्रभूति नाम से प्रसिद्ध हुए। भावश्रुत पर्याय से परिणत इस इन्द्रभूति ने अन्तर्मुहूर्त्त में बारह अंग और चौदह पूर्व ग्रन्थों की क्रमशः रचना की। अतः भावश्रुत और अर्थ—पदों के कर्ता तीर्थंकर हैं तथा तीर्थंकर के निमित्त को पाकर गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुए। इसलिये द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। यथा—

"श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधर-रचितं द्व्यनेक-भेदस्थम्।"

इस भरतखण्ड के आर्य प्रदेश के अनेक जनपदों में विहार करके जब चतुर्थकाल में साढ़े तीन मास कम चार वर्ष शेष रह गये तब कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी में (रात्रि के अन्तिम प्रहर में) कमल वनों से वेष्टित पावापुर के बाहरी उद्यान में स्थित सरोवर से भगवान् महावीर स्वामी मुक्ति को प्राप्त हुए। उसी समय गौतम गणधर केवलज्ञान से सम्पन्न हो गये तथा वे गौतम गणधर भी बारह वर्ष में मुक्त हो गये। जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गौतम गणधर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए उसी क्षण में सुधर्मा मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। ये भी बारह वर्ष तक लगातार धर्मामृत (श्रुत) की वर्षा कर उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त हुए। तत्पश्चात् जम्बू स्वामी केवलज्ञानी हुए। उन्होंने इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में अड़तीस वर्षों तक लगातार विहार किया तथा श्रुत द्वारा भव्य जीवों का उपकार कर अष्टकर्मों का क्षय कर मुक्ति को प्राप्त किया। ये तीनों अनुबद्ध केवली की सम्पदा को प्राप्त थे। इनके मोक्ष चले जाने के बाद इस भरत क्षेत्र में केवलज्ञान रूपी सूर्य अस्त हो गया।

तदनन्तर विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांचों ही आचार्य परम्परा के थे तथा क्रमशः चौदह पूर्व के धारी हुए। इन्होंने सौ वर्ष पर्यन्त भगवान् के समान यथार्थ मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन (उपदेश) किया। बाद में विशाखाचार्य, प्रौष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थस्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह अंग और उत्पाद पूर्व आदि दश पूर्वों के धारक तथा शेष चार पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। इन्होंने १८३ वर्षों तक मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ह्रस्वसेन तथा कंसाचार्य ये पांचों ही आचार्य परम्परागत क्रमशः सम्पूर्ण अंग (११ अंग) और चौदह पूर्वों के एकदेश धारक हुए। ये ११८ वर्ष पर्यन्त श्रुत का प्रचार प्रसार किये। इस प्रकार ६८३ वर्ष पर्यन्त अङ्गज्ञान की प्रवृत्ति रही। तत्पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चारों ही आचार्य सम्पूर्ण आचारांग के धारक और शेष अंग तथा पूर्वों के (११८ वर्ष तक) एकदेश के धारक हुए। इसके बाद सभी अंग और पूर्वों का एकदेश, आचार्य-परम्परा से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ।

अर्हद्बलि के शिष्य माघनन्दी और माघनन्दी के शिष्य धरसेन सौराष्ट्र (गुजरात-काठियावाड़) देश के गिरिनार नामक नगर की चन्द्रगुफा में रहते थे। ये अष्टांग महानिमित्त के पारगामी प्रवचन-कुशल थे। इनको आग्रायणी पूर्व में वर्णित पञ्चम वस्तु की महाप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था कि आगे अङ्गश्रुत का विच्छेद हो जाएगा।

धरसेनाचार्य ने महामहिमा आकर (जो कि अंग देश के अन्तर्गत वेणाक नंदी के तीर पर था वेण्या नाम की एक नदी बंबई प्रांत के सतारा जिले में महिमानगढ़ एक गांव भी है, जो हमारी महिमा नगरी हो सकती है) धरसेनाचार्य अनुमानतः सतारा जिले में जैन मुनियों के पंचवर्षीय साधु सम्मेलन में सम्मिलित हुए और उन्होंने दक्षिणपथ के (दक्षिण देश के निवासी) आचार्यों के पास एक लेख भेजा। लेख में लिखे गये धरसेनाचार्य के वचनों को भलीभांति समझकर उस संघ के नायक महासेनाचार्य ने आचार्यों से तीन बार पूछकर शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ देश काल और जाति से, शुद्ध उत्तम कुल में उत्पन्न हुए, समस्त कलाओं में पारंगत दो साधुओं को आंध्रदेश में बहने वाली वेण्या नदी के तट पर भेजा। जो कुन्द पुष्प, चन्द्रमा और शंख के समान सफेद वर्ण वाले, समस्त लक्षणों से परिपूर्ण हैं, जिन्होंने आचार्य धरसेन की तीन प्रदक्षिणा दी है और जिनके अंग नम्र होकर आचार्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरणों में पड़ गये हैं ऐसे दो बैलों को धरसेन भट्टारक ने रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न में देखा। इस प्रकार के स्वप्न को देखकर संतुष्ट हुए धरसेनाचार्य ने "जयउ सुय देवदा" श्रुत देवता जयवंत हों ऐसे वचन का उच्चारण किया।

उसी दिन दक्षिण पथ से भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्य के पास पहुंच गये। उसके बाद उन्होंने धरसेनाचार्य से निवेदन किया कि—

"अणेण कज्जेणम्हा दोवि जणा तुम्हं पादमूलमुगवयाति।"

इस कार्य से हम दोनों आपके पादमूल को प्राप्त हुए हैं। उन दोनों साधुओं के इस प्रकार निवेदन करने पर "सुदवु भट्टं" अच्छा है, कल्याण हो इस प्रकार कहकर धरसेर भट्टारक ने उन दोनों साधुओं को आशीर्वाद दिया—

सेलघ्यण भग्यघड अहि चलणि महिसाऽवि-जाहय सुएहि।
भट्टिय-मसय समाणं बक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥६२॥

भगवान् धरसेन ने विचार किया कि शैलधन, भग्नघट, अहि (सर्प) चालनी, महिष, अवि (मेंढा), जाहक (जोंक) शुक माटी और मशक के समान श्रोताओं को जो मोह से श्रुत का व्याख्यान करता है—

दढ-गारव पडिबद्धो विसयामिस विस वसेण धुम्मंतो।
सो भट्ट-बोही-लाहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥६३॥

वह मूढ दृढ़ रूप से ऋद्धि आदि तीनों प्रकार के गौरवों के आधीन होकर विषयों की लोलुपता रूपी विष के वश मूर्च्छित हो अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति से भ्रष्ट होकर भव वन में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है।

इस वचन के अनुसार स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करने वाले श्रोताओं को विद्या देना संसार और भय को ही बढ़ाने वाला है। ऐसा विचार कर दोनों की परीक्षा लेने का निश्चय किया, क्योंकि उत्तम प्रकार से ली गई परीक्षा हृदय में संतोष को उत्पन्न करती है—

सुपरिक्खा हियय णिव्वुइ करोति।

अतः धरसेनाचार्य ने दोनों को मन्त्र सिद्धि करने के लिए कह दिया। दोनों गुरु वचनानुसार विद्या सिद्धि करने के लिए वहां से निकल गये। दो दिन के उपवास के बाद विद्या सिद्ध हुई तो उन्होंने विद्या की अधिष्ठात्री देवियों को देखा कि एक देवी के दांत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी (अंधी) है। "विकृतांग होना देवताओं का स्वभाव नहीं है।" इस प्रकार दोनों ने विचार किया। मन्त्र-सम्बन्धी व्याकरण शास्त्र में कुशल उन दोनों ने हीन अक्षर वाले मन्त्र में अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षर वाले मन्त्र में से अक्षर निकालकर मन्त्र को पढ़ना प्रारम्भ किया तो दोनों देवियां अपने स्वभाव और सुन्दर रूप में उपस्थित दिखलाई पड़ीं।

तत्पश्चात् गुरुवर धरसेन के समक्ष योग्य विनय सहित उन दोनों ने विद्या-सिद्धि सम्बन्धी समस्त वृत्तांत को निवेदन किया। बहुत अच्छा "सुट्ठु तुट्वेण" इस प्रकार संतुष्ट हुए धरसेन भट्टारक ने शुभ तिथि नक्षत्र आदि में ग्रन्थ का पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार क्रम से व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान् से उन दोनों ने आषाढ़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के पूर्वाह्न काल में ग्रन्थ समाप्त किया। उसी दिन वहां से भेजे गये उन दोनों ने "गुरु-वयणमलंघणीज्जं" गुरु के वचन अलंघनीय होते हैं। ऐसा विचार कर, आते हुए अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षा योग किया।

ज्येष्ठसितपक्ष पंचम्यां चातुर्वर्ण्य संघ समवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्याधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥४८॥
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्याति तिथिरयं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः॥

—इन्द्रनंदी श्रुतावतार

अर्थ—भूतबली आचार्य ने षट्खण्डागम की रचना करके ज्येष्ठ शुक्ला को चतुर्विध संघ के साथ उन शास्त्रों को उपकरण मानकर श्रुतज्ञान की पूजा की जिससे श्रुतपंचमी तिथि की प्रख्याति जैनियों में आज तक चली आ रही है और उस तिथि को वे श्रुत की पूजा करते हैं।

वर्षा योग को समाप्त कर जिनपालित पुष्पदन्त आचार्य ने दीक्षा दी। बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र बनाकर जिनपालित को पढ़ाकर उन्हें भूतबली आचार्य के पास भेजा। भूतबलि आचार्य ने जिनपालित से जान लिया कि पुष्पदन्त आचार्य की अल्पायु है।

अतः महाकर्म प्रकृति प्राभृत का विच्छेद न हो इस प्रकार विचार कर भूतबलि आचार्य ने द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर ग्रन्थ रचना की। इसलिये इस खण्ड सिद्धांत की अपेक्षा भूतबलि एवं पुष्पदंत आचार्य भी श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी श्रुतपंचमी का महान् पर्व है, इसको ज्ञानपंचमी भी कहते हैं।

॥ पांच श्रुत धाम हैं ॥

१. पवित्र श्रुततीर्थ राजगृह का विपुलाचल है जहां महावीर स्वामी ने श्रुतज्ञान की गंगा बहायी और गणधर देव ने इसे झेलकर बारह अंगों की रचना की।

२. गिरिनार की चन्द्रगुफा—जहां धरसेन स्वामी, पुष्पदन्त व भूतबलि इन मुनि द्वयवरों को अमूल्य श्रुत का उत्तराधिकार दिया।

३. अंकलेश्वर जहां वह जिनवाणी पुस्तकारूढ हुई और चतुर्विध संघ ने श्रुत का महोत्सव किया।

४. मूड़बद्री जहां पर जिनवाणी ताड़पत्रों पर सुरक्षित रूप से विराजमान है और आज हमें प्राप्त हुई।

५. पोन्नूर हिल जहां श्री कुं. कुं. आचार्य ने परमागम शास्त्र, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि की रचना की।

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसः जिनम्।
न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुत देवयोः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान-द्वात्रिंशिका—एक परिचय

☐ समणी चैतन्यप्रज्ञा

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जो विक्रम की छठी शताब्दी के उत्तरवर्ती ज्ञात होते हैं, उन्होंने लगभग ३२-३२ श्लोक परिमाण वाली बत्तीस द्वात्रिंशिकाओं की रचना की। इनमें से कुछ द्वात्रिंशिकाओं का संग्रह "द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका" नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। इनके माध्यम से सिद्धसेन ने ज्ञान के क्षेत्र में कुछ नये विचार प्रस्तुत किये। ये विचार जैन परम्परा में उनके पहले न किसी ने उपस्थिति किये थे और न ही उनकी ओर किसी का ध्यान गया। "ध्यान-द्वात्रिंशिका" सिद्धसेन प्रणीत द्वात्रिंशिकाओं में दसवां स्थान रखती है। इसमें विशेषतः प्राचीन अथवा आगमिक ध्यान योग का, तत्कालीन योग के साथ तुलनात्मक व समन्वयात्मक निरूपण किया गया है।

दोषरहित, ज्ञानस्वरूप और अमृतत्व का संदेश देने वाले भगवान् महावीर को सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है।[1] तत्पश्चात् स्वल्प शब्दों में महार्थ को प्रकट करने वाली "ध्यान-द्वात्रिंशिका" का प्रारंभ होता है। यद्यपि श्लोक संख्या ३४ है तथापि 'द्वात्रिंशिका' शब्द (नाम) का प्रयोग तत्कालीन शब्द विशेष के अति प्रचलन का ही सूचक प्रतीत होता है।

"ध्यान-द्वात्रिंशिका" जैसा कि नाम ही सूचित करता है—ध्यान इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। तथापि ध्यान की स्वरूप स्पष्टता ने अनेक ऐसे विषयों का भी संस्पर्श किया है जो भारतीय चिन्तनधारा की दार्शनिक परम्परा, ज्ञान मीमांसा, कर्मवाद, निवृत्तिवाद व समन्वयकारी दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हैं। इन सब बिन्दुओं की खोज ही प्रस्तुत लेखन की प्रेरक है।

ध्यान-योग

"ध्यान-द्वात्रिंशिका" में संक्षिप्त पर ध्यान का पूरा दर्शन अर्थात् साधक की ध्यान की दिशा में प्रवृत्त होने हेतु उठी हुई जिज्ञासा से लेकर, अन्तिम परिणति का चित्रण हुआ है।

साधक की जिज्ञासा है—"मैं क्या हूं और क्या नहीं? मैं एक हूं या अनेक?"[2]

ध्यान का केन्द्रीय तत्त्व है—आत्मा। इसकी स्वीकृति के बिना साधक साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। इस हेतु इसमें अन्य दर्शनों में आत्मा के विषय में प्रस्तुत एकान्तिक मान्यताओं का निराकरण करते हुए आत्मा की तर्क पुरस्सर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि की गई है । 'मैं हूं' यह वर्तमानिक स्वानुभूति ही आत्मा के अस्तित्व की सबल परिचायक है—

नाहमस्मीत्यसद्भावे दुःखोद्वेगहितैषिता ।
न नित्यानित्यनानैक्यकर्तादेकान्तपक्षतः ।।[3]

इसमें मध्य युग की योग धारा से प्रभावित योग संबंधी शब्दावली के साथ प्राचीन जैन ध्यान के तत्त्वों को प्रतिपादित किया गया है । उदाहरण-स्वरूप पतंजलि ने आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि को ध्यान के प्रमुख अंगों के रूप में प्रस्तुत किया है ।[4] "ध्यान-द्वात्रिंशिका" के अनेक श्लोकों में चाहे-अनचाहे स्पष्ट रूप से इन अंगों की चर्चा की गई है ।[5] जिसकी स्पष्टता हेतु "पातञ्जलयोग-दर्शन" का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है ।

प्राणायाम को चित्त अर्थात् मानसिक व शारीरिक जड़ता का निवारण करने वाला तथा अनेक विध लब्धियों का कारण रूप बतलाते हुए सिद्धसेन लिखते हैं—

प्राणायामो वपुश्चित्तजाड्यदोषविशोधनः ।
शक्युत्कृष्टकलत्कार्यः प्रायेणैश्वर्यसत्तमः ।।[6]

ध्यान—साधक में किन-किन योग्यताओं का होना आवश्यक है, इसका संकेत निम्न श्लोक में आधुनिक सन्दर्भ में किया गया है—

श्रद्धावान् विदितोपायः परिक्रान्तपरीषहः ।
भव्यो गुरूभिरादिष्टो योगाचारमुपाचरेत् ।।[7]

ध्यान के कुछ प्रयोगों और उनके परिणामों की चर्चा भी "ध्यान-द्वात्रिंशिका" में की गई है । जैसे—प्राणायाम शारीरिक व मानसिक जड़ता का निवारक है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है । क्रूरता, क्लेशों व हिंसात्मक निमित्तों के अपनोदन के लिए मन, शब्दादि विषय एवं काय (शरीर) प्रेक्षा (दर्शन) का प्रयोग निर्दिष्ट है ।[8] कषाय उपशमन व आस्रव निरोध के लिए धर्मध्यान तथा अवशिष्ट मल (आन्तरिक दोष) की शुद्धि हेतु शुक्ल ध्यान की साधना बतलाते हुए कहा गया है—

इत्यास्रवनिरोधोऽयं कषायस्तम्भलक्षणः ।
तद्धर्म्यमस्माच्छुक्लं तु तमःशेषक्षयात्मकम् ।।[9]

अन्त में साधक शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण में निर्विकल्प ध्यान की ओर बढ़ता हुआ विशुद्धि को प्राप्त करता है । तब प्रकट होता है आन्तरिक अनंत ऐश्वर्य ।[10] पतञ्जलि के अनुसार जैसे-जैसे शुद्धि बढ़ती है वैसे-वैसे ज्ञान वृद्धि होती चली जाती है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।[11]

चरम अभ्युदय के क्षण में निर्मल जल के सदृश कैवल्य (सर्वज्ञता) प्रकट होता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्क्षीयमाणं क्षीणं तु चरमाभ्युदयक्षणे ।
कैवल्यकारणं पंककललाम्बुप्रसादवत् ।।[१२]

ध्यान की चरमावस्था जहां केवल ध्येय विषयक सत्ता की ही उपलब्धि होती रहती है अन्य सभी प्रपञ्च समाप्त हो जाते हैं। पतञ्जलि ने इसी को समाधि कहा है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।[१३]

सिद्धसेन दिवाकर समाधि शब्द का उल्लेख तो नहीं करते हैं किन्तु ध्यान की उच्च स्थिति का चित्रण पतञ्जलि के इसी सूत्र की भाषा में करते हैं—

सर्वप्रपञ्चोपरतः, शिवोऽनन्यपरायणः ।
सद्भावमात्रप्रज्ञप्ति निरूपाख्योऽथ निर्वृतः ।।[१४]

दर्शन

नाम है 'ध्यान-द्वात्रिंशिका' और पढ़ते-पढ़ते अनुभूत होता है कि ध्यान छूट गया है और दर्शन की चर्चा प्रारंभ हो गई है। गहराई में जाने पर ज्ञात होता है कि ध्यान से ही प्रकट होता है चिन्तन, ज्ञान व दर्शन। ध्यान की गहराइयों में डूबे बिना न सत्य उपलब्ध होता है और न आनन्द। दर्शन और कुछ भी नहीं सत्य का ही एक प्रकार है। दर्शन सत्य की खोज का एक मार्ग है, ध्यान सत्य के साक्षात्कार का एक उपाय है।

दर्शन ध्यान-द्वात्रिंशिका में पदे-पदे परिलक्षित होता है। दार्शनिक शब्दावली के स्पष्टीकरण के बिना व दार्शनिक मन्तव्यों को समझे बिना श्लोक के हार्द को समझना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। जैन-दर्शन के साथ-साथ बौद्ध, न्याय, वैशषिक, सांख्य, वेदान्त आदि की मान्यताओं का भी इसमें संस्पर्श हुआ है।

आत्म तत्त्व की प्रस्थापना में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि के एकान्तिक मतों का निराकरण किया गया है। और "मैं हूं" इस स्वानुभूति को आत्मा के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण बताया है—

नाहस्मीत्यसद्भावे दुःखोद्वेगहितैषिता ।
न नित्यानित्यनानैक्यकर्ताद्येकान्तपक्षतः ।।[१५]

आत्मवाद व कारणवाद की चर्चा करते हुए उस प्रसंग में बौद्ध-नैरात्म्यवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद की गंभीरता से समीक्षा की गई है।[१६]

इन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रामाण्य[१७], आलम्बन व निमित्त कारण की चर्चा[१८], जाति, लिंग, परिणाम, काल, हेतुवाद आदि[१९] का उल्लेख तथा द्रव्य-पर्याय आदि दार्शनिक बिन्दुओं का यथास्थान प्रयोग गूढ़ता पैदा करने वाला है—

द्रव्यपर्यायसंकल्पश्चेतस्तद्व्यञ्जकं वचः ।
तद्यथा यच्च यावच्च निरवद्येति योजना ।।[२०]

कर्मवाद

जागतिक विचित्रता[२१] व कर्मफल की व्यवस्था हेतु कर्म (अदृष्ट) की सत्ता को प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है। जैन-दर्शन ने कर्म की विवेचना में अति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्मता का स्पर्श किया है। कर्मों के आठ प्रकार बतलाये गये हैं। यह विभाजन कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ संबंध स्थापित होने के बाद की स्थिति है। उसके पूर्व वे सभी एक रूप कर्म-वर्णना के पुद्गल के रूप में ही जाने जाते हैं इस बात को सिद्धसेन दिवाकर ने स्पष्ट करते हुए लिखा है—

एकस्मिन् प्रत्ययेऽष्टाग कर्मसामर्थ्यसंभवात् ।
नानात्वैकपरिणामसिद्धिरष्टौ तु शक्तितः ।।[२२]

कर्म के साथ-साथ कषाय[२३], आस्रव[२४], संवर, क्षय, क्षीयमाण[२५] और उदीरणा, व्यय आदि को समझने के लिए कर्मवाद को ठीक से समझने की आवश्यकता रहती है—

नेहारम्भणचारोऽस्ति केवलोदीरणव्ययौ ।[२६]

ज्ञान मीमांसा

प्रस्तुत 'द्वात्रिंशिका' में ज्ञान-विषयक चर्चा प्रसङ्गवश की गई है। इसलिये संपूर्ण जैनाभिमत ज्ञान-विभाग की स्पष्टता के अभाव में अवधि ज्ञान, केवलज्ञान आदि की चर्चा जिनका विवेचन 'द्वात्रिंशिका' में हुआ है; सहजतया बोधगम्य नहीं हो पाता है।

चक्षुर्वद्विषयख्यातिरवधिज्ञानकेवले ।
शेषवृतिविशेषात्तु ते मते ज्ञानदर्शने ।।[२७]

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष[२८], आत्मप्रत्यक्ष[२९], सम्यग्दर्शन[३०], तत्त्व-ज्ञान[३१] आदि ज्ञान मीमांसात्मक विषयों का उल्लेख "द्वात्रिंशिका" में देखा जा सकता है।

निवृत्तिवाद

भारत में दो परम्पराएं प्राचीन काल से चली आ रही हैं, वे हैं—ब्राह्मण-परम्परा व श्रमण-परम्परा। प्रथम का बल कर्मकाण्ड पर अधिक रहा है और द्वितीय का निवृत्तिवाद पर।

श्रमण-परम्परा ने जागतिक प्रपञ्च के प्रति उदासीन रहने का, वैराग्यवृद्धि का उपदेश दिया। इस संदर्भ में 'ध्यान-द्वात्रिंशिका' में वैराग्य की जितनी मर्मस्पर्शी व यथार्थता का अवलम्बन करने वाली परिभाषा की गई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है—

न दोषदर्शनाच्छुद्धं वैराग्यं विषयात्मसु ।
मृदुप्रवृत्युपायोऽयं तत्त्वज्ञानं परं हितम् ।।[३२]

विषय एवं शरीर आदि के दोष दर्शन मात्र से शुद्ध वैराग्य संभव नहीं है। यह तो एक प्रारंभिक सरल उपाय मात्र है। वास्तविक आत्महित तो तत्त्व-ज्ञान या सम्यग्-दर्शन से ही संभव है।

आत्मस्थ व्यक्ति को किसी प्रकार का निर्देश अपेक्षित नहीं होता है जो आचरण अज्ञानी व्यक्ति के लिए बन्धन का कार्य करता है। उसे संसारचक्र में फंसाए रखता है। वही आचरण आत्मार्थी के लिए बन्धनमुक्ति का उपाय (साधन) बन जाता है। यह निर्वृति की ओर बढ़ने वाले साधक की स्थिति है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न विधिः प्रतिषेधो वा कुशलस्य प्रवर्तितुम् ।
तदेव वृत्तमात्मस्थं कषायपरिपक्तये ।।[११]

समन्वयवादी दृष्टिकोण

सिद्धसेन दिवाकर ने ध्यान द्वात्रिंशिका में जिस विषय को प्रस्तुत किया है उसे केवल जैन अवधारणाओं के संदर्भ में ही प्रस्तुत नहीं किया है। उस समय इस विषय का जो भी महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध था, उसका जैन चिंतन के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन के साथ अपने पक्ष को जिस गहराई से इसमें रखा गया है, वह अन्यत्र देखने में नहीं आता। वैसे प्राचीन जैन, ध्यान मार्ग की अपनी विशेषताओं का जैसा तुलनात्मक स्पष्टीकरण सिद्धसेन दिवाकर ने किया, वैसा पूर्व में शायद् ही किसी ने किया है। उदाहरण के लिए जैन, परम्परा में अभिमत चार ध्यानों में से प्रथम दो ध्यान आर्त्त व रौद्र भव एवं उपादान का युक्तिपूर्वक समावेश किया है—

पिपासाभ्युदयः सर्वो भवोपादनसाधनः ।
प्रदोषापायगमनादार्त्तरौद्रे तु ते मते ।।[१४]

मिथ्यात्व एवं कषायरूपी आस्रवों के निरोध (संवर) को ग्रन्थकार ने धर्मध्यान का मुख्य उद्देश्य बताया है।[१५] परम्परागत आज्ञा, अपाय, विपाक एवं संस्थान विचय के स्थान पर चित्त, विषय एवं शरीर के स्वभाव दर्शन पर जो बल दिया है।[१६] वह सिद्धसेन दिवाकर की मौलिक प्रस्तुति है।

आत्मवाद एवं कारणवाद की चर्चा के प्रसंग में बौद्ध अनात्मवाद एवं प्रतीत्य-समुत्पाद की गंभीर समीक्षा की है, जो उनके बौद्ध-दर्शन तथा जैन-दर्शन के गहन तुलनात्मक अध्ययन का एक असाधारण निदर्शन है। किसी अन्य दर्शन के हार्द को समझना, उसका यथातथ्य मूल्यांकन करते हुए स्वपक्ष का उसी गहनता से प्रस्थापन करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। किन्तु इसका सम्पादन सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा से अत्यन्त सहज और सरल रूप से किया है।

योगाङ्गों की चर्चा करते हुए आसन, प्राणायाम, क्रूरविलष्ट, वितर्कात्म[१७], चर, स्थिर, महत्, सूक्ष्म[१८], विषय-ख्याति[१९], सद्भावमात्रप्रज्ञप्ति आदि शब्दों का प्रयोग पातञ्जल-योग-दर्शन, न्याय, वैशेषिक-दर्शन तथा सांख्य-दर्शन आदि के प्रभाव को सूचित करता है।

कुशल के लिए कोई निर्देश नहीं होता है। सिद्धसेन दिवाकर की इस भावना पर "आचारांग" का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आचारांग के दूसरे अध्ययन में श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं कि —"द्रष्टा (सत्यदर्शी) के लिए कोई निर्देश नहीं है।"[२०]

इस प्रकार सम्पूर्ण "द्वात्रिंशिका" में सिद्धसेन दिवाकर का तर्कपूर्ण समन्वयवादी दृष्टिकोण देखा जा सकता है।

यहां कुछ ही विशेषताओं की अवगति प्रस्तुत की गई है। विज्ञजन स्वसमीक्षा से और भी अधिक बिन्दुओं का निर्देश कर सकते हैं; जिनकी चर्चा 'ध्यान-द्वात्रिंशिका' में हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-सूची

१. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो. १
२. वही, श्लो. ३
३. वही, श्लो. ११
४. पातञ्जल-योग-दर्शन, २।२७
५. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो. २३-२५-३२-३३
६. वही, श्लो. २४
७. वही, श्लो. २२
८. वही, श्लो. २५
९. वही, श्लो. २७
१०. वही, श्लोक २८
११. पातञ्जल योग दर्शनम्, २।२८
१२. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो. २९
१३. पातञ्जल-योग-दर्शन, ३।३
१४. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो. ३२
१५. वही, श्लो. ११
१६. वही, श्लो. ११-१२
१७. वही, श्लोक. १४
१८. वही, श्लो. ७
१९. वही, श्लो. १३
२०. वही, श्लो. १४
२१. अभिधर्म कोष, ४।१
२२. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो. १०
२३. वही, श्लो. २७
२४. वही, श्लो. २७
२५. वही, श्लो. २८
२६. वही, श्लो. २८
२७. वही, श्लो. ३०
२८. वही, श्लो. ९
२९. वही, श्लो. १७
३०. वही, श्लो. १६
३१. वही, श्लो. २१
३२. वही, श्लो. २१
३३. वही, श्लो. २०
३४. वही, श्लो. ६
३५. वही, श्लो. २७
३६. वही, श्लो. २५
३७. वही, श्लो. २५
३८. वही, श्लो. २६
३९. वही, श्लो. ३०
४०. आचारांग, अध्ययन २।१८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्कण्डेय पुराण में देवी शक्ति का स्वरूप

■ डॉ० (श्रीमती) मुन्नी जोशी

वैदिक वाङ्मय के वाक्सूक्त में जिस शक्ति के बीज का वपन किया गया, उसी का पौराणिक साहित्य में शाखाओं एवं प्रशाखाओं में अति विस्तार किया गया। इस सम्पूर्ण सृष्टि में इस शक्ति को अनुस्यूत बताया गया है तथा इसे सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। शक्ति का उल्लेख अधिकांश पुराणों में उपलब्ध होता है। देवी भागवत एवं मार्कण्डेय पुराण का प्रतिपाद्य विषय प्रमुख रूप से देवी स्वरूप ही है। तांत्रिक एवं वैदिक परम्परा के अनुयायी समभाव से देवी को अपनी आत्मा मानते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से भी देवी के विविध उपाख्यानों—विशेषकर, दुर्गा सप्तशती का अतीव महत्त्व है।

पुराणों के धार्मिक तत्त्वों के निरूपण में शक्ति का निरूपण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। देवी के स्वरूप एवं पराक्रम पूर्ण कार्यों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि देवी ही आदि शक्ति है।

सम्पूर्ण संसार को नियन्त्रित करने में इसी शक्ति को सक्षम माना है। इसी को माया एवं प्रकृति नाम से अभिहित किया है।[1] शक्ति ही विश्वसारा, परम प्रधान प्रपञ्च की सारसर्वस्वभूत वस्तु है।[2] आदि-शक्ति के सगुण-निर्गुण दो स्वरूप है। उपनिषदों में इसे पराशक्ति कहा गया है।[3]

देवी का स्तवन

मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत देवी-माहात्म्य का विशद् वर्णन है। देवताओं की कार्य-सिद्धि के लिए जब यह देवी आविर्भूत होती है, तब नित्य होने पर भी इस संसार में उत्पन्न मानी जाती है। विष्णु के तेज की, अतुल मूर्ति की देवगण वन्दना करते हैं। ब्रह्मा द्वारा देवी की स्तुति की गई है। हे नित्ये! तुम देवताओं के हवि देने के मंत्र स्वाहास्वरूप हो। तुम पितरों के श्राद्धादि में स्वधारूप, तुम ही वषट्कार इन्द्र के हविर्दान मंत्र के स्वरस्वरूप हो। तुम सुधास्वरूप अक्षरों में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत रूप तीन मात्रास्वरूप हो। तुम प्रकृतिस्वरूप हो।[4]

देवी त्रिगुण रूप में संसार को उत्पन्न करने वाली, पोषण करने वाली, तथा संहार करने वाली हैं। महाविद्या, महामेधा, महामाया, महास्मृति, महामोहा, महादेवी है तथा चराचर जगत् की प्रकृति है। आदिशक्ति देवी का अवतरण समस्त देवताओं के एकीकरण स्वरूप हुआ है। भगवती देवी का हिमालय पर्वत से अवतरित होने का उल्लेख मिलता है।[5]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त देवताओं के शरीर से प्रकट पुंजीभूत तेज से ही देवी का प्रादुर्भाव माना गया है।[७]

आदिशक्ति परमेश्वर की उन प्रधानशक्तियों में से एक है, जिसका रूप आवश्यकतानुसार समय-समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। वेद में विराट् हिरण्यगर्भ और अव्याकृत अर्थात् अधिष्ठात्री देवतारूप ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र का वर्णन विभिन्न रूपों को प्रकट करने के लिए किया गया है।

मधु कैटभ वध के लिए स्वयं देवता आदिशक्ति देवी का स्तवन करने विष्णु को जगाते हैं। असुरों के विनाशार्थ ही विष्णु के नेत्र, मुख, नासिका, बाहु, हृदय तथा वक्षःस्थल से निकल कर ही देवी प्रकट हुई ऐसा विवरण मिलता है।[८]

देवी के विविध रूप

महाकाली

त्रिगुणमयी परमेश्वरी ही सबका आदिकरण है। यही दृश्य-अदृश्य रूप से पूरे विश्व में व्याप्त है। इसे विष्णु की योग-निद्रा कहा गया है।[९]

मधुकैटभ दानव का वध करने हेतु यही आदिशक्ति देवी महाकाली कही गई। उक्त दानव के वध हेतु यह अव्यक्तजन्मा देवी-देवताओं द्वारा पूजित भगवान् विष्णु के नेत्र, मुख, नासिका आदि से उत्पन्न हुई।

देवीभागवत में मधुकैटभ का वध करने हेतु देवी को प्रसन्न करने के लिए उपासना की गई है।[१०]

महालक्ष्मी

यह देवी अनन्त कान्तिमय साक्षात् महालक्ष्मी है। इस रूप में देवी का मुख गोरा, भुजायें श्यामवर्ण, स्तनमण्डल श्वेत, चरण लाल, पिंडली श्यामवर्ण है। यही महिषासुर वध करने वाली हैं।[११]

इस रूप में देवी की उत्पत्ति समस्त देवताओं के निकले हुए तेज का पुञ्जीभूत होना है।

महादेव के निकले तेज से देवी का मुख, यम से केश, विष्णु के तेज से बाहु, चन्द्रमा से स्तन, इन्द्र के तेज से मध्यप्रदेश, वरुण से जंघा, पृथ्वी से नितम्ब, ब्रह्मा से चरण, सूर्य से अंगुली, कुबेर से नासिका, प्रजापति के तेज से दांत, पावक से नेत्र, दोनों सन्ध्याओं द्वारा भृकुटि, वायु द्वारा कान आदि प्राप्त हुए।[१२]

देवताओं द्वारा पूजित देवी महालक्ष्मी रूप में महिषासुर के समक्ष युद्ध हेतु उपस्थित हुई। धनुष की प्रत्यंचा की टंकार मात्र से सम्पूर्ण पाताल कम्पायमान हो गया।[१३]

सर्वप्रथम महिषासुर का चिक्षुर नामक सेनापति युद्ध हेतु आया। देवी ने उनके शस्त्र लीलापूर्वक ही नष्ट कर दिये। देवी के निःश्वास द्वारा सैकड़ों गण उत्पन्न होकर असुरों से युद्ध करने लगे। देवी का वाहन सिंह भी असुर मर्दन करने लगा। देवी के इस रूप को देखकर सभी देवता पुष्प-वृष्टि करते हैं।[१४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चण्डिका देवी चराचर जगत् को विस्तारित करने वाली है। समस्त देवताओं द्वारा पूजित देवी समस्त जगत् की पालनकर्ता हैं। समस्त पदार्थों का आश्रय स्वरूप, जगत् की अंशभूत हैं। स्वाहा और स्वधारूप से उच्चारित देवी की उपासना अचित्य है।

ऋक्, यजुः व सामवेद की आश्रयस्वरूप देवी समस्त जगत् की पीड़ा हरण करने वाली है। देवी शक्ति अतुलनीय है।[१५]

महासरस्वती

एकमात्र सत्त्वगुण प्रधान पार्वती ही महासरस्वती है। यही शुम्भ-निशुम्भ का वध करने वाली है।[१६] उक्त असुर के वध हेतु देवी के शरीर से सौ शिवाओं के सदृश चण्डिका शक्ति उत्पन्न हुई। महेश्वर दूत बने, तभी से वह शिवदूती कहलायीं।[१७]

आदिशक्ति के आयुध

आदिशक्ति देवी का पदार्पण असुरों के मर्दन हेतु ही हुआ है। देवताओं द्वारा अपने अस्त्र देवी को दिये गये।

शिवजी द्वारा शूल, नारायण द्वारा चक्र, वरुण द्वारा शंख, वायु द्वारा धनुष-बाण से युक्त तरकस. इन्द्र द्वारा वज्र, ऐरावत द्वारा घण्टा, यम के कालदण्ड से दण्ड, वरुण द्वारा पाश, दक्षप्रजापति द्वारा अक्षमाला, ब्रह्माजी द्वारा कमण्डल, दिवाकर द्वारा किरणें, काल द्वारा निर्मल खड्ग चर्म, समुद्र द्वारा मोतियों का हार, विश्वकर्मा द्वारा अनेक अस्त्र, समुद्र द्वारा पुष्पहार, कुबेर द्वारा सुरापान पात्र आदि प्रदान किये गये।[१८]

देवताओं द्वारा स्तवन

देवताओं द्वारा देवी की स्तुति की गयी है। देवी, महादेवी, शिवा, प्रकृति, भद्रा, रौद्रा, नित्या, गौरी, धात्री, कृत्या, कल्याणी, बुद्धिरूपा, सिद्धिरूपा, लक्ष्मीरूपा, दुर्गा, दुर्गापरा, सर्वकारिणी, कृष्णा आदि नामों से देवी की उपासना की गई।[१९]

जगत् की प्रतिष्ठा स्वरूप देवी विष्णुमाया कही गई है। समस्त प्राणियों में चेतनास्वरूप, बुद्धिरूप, निद्रास्वरूप, समस्त विपदाओं का हरण करने वाली देवी की आराधना की गई है।[२०]

दुर्गासप्तशती में देवी आराधना

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादि शास्त्रों में इस गुणमयी मायाशक्ति को प्रकृति, मूलप्रकृति, माहामाया, योगमाया कहा गया है। यही शक्ति माहेश्वरी भी कही गई है।[२१] दुर्गासप्तशती में "अर्गलास्तोत्रम्" के अन्तर्गत देवी का जयन्ती, मंगला, काली, भद्रकाली, कपालिनी, दुर्गा, क्षमा, शिवा, धात्री, स्वाहा तथा स्वधा आदि नामों से स्तवन किया गया है।[२२]

हे चतुमुर्ख ब्रह्माजी द्वारा प्रशंसित चार भुजाधारिणी परमेश्वरी ! मुझे रूप, जय प्रदान करो।[२३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार हमने देखा कि एक ही देवी अपनी लीला से अनेक रूपों में प्रकट हुई है। उसकी महिमा अपार है। इसी देवी ने हर युग में मानव-कल्याणार्थ अवतार लिया है।

शक्ति के बिना शक्तिमान् का अस्तित्व ही सम्भव नहीं हो सकता है। निर्गुण ब्रह्म भी माया से अविच्छिन्न होकर, प्रपञ्च की सृष्टि में अपना सामर्थ्य स्थापित करता है। भारतीय संस्कृति में शक्ति को अभ्यर्हित माना गया है। सर्वत्र शक्ति का उच्चारण पहले और शक्तिमान का उच्चारण बाद में किया गया है। राधाकृष्ण, सीताराम इत्यादि पद-परिपाटियों से इस मन्तव्य की पुष्टि हो जाती है। ❋

संदर्भ

1. The prakriti is also called Maya which is responsible for extending her power over the whole universe.
—Shiva Purana-Apoitic analysisp-12

२. प्रधानमिति यामाहुर्या शक्तिरिति कथ्यते (पटल-१।६)

३. तस्या एव ब्रह्मा आजीजनत्। विष्णुरजीजनत्, रुद्रोऽजीजनत्, सर्वे मरुद्गणा अजीजनत्। ग्रन्धर्वाप्सरसः किन्नरावादित्रवादिनः समान्तादजीजनत्। भोग्यमजीजनत् सर्वमजीजनत्। सर्वे शक्तिमजीजनत् अण्डजं स्वदेजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किन्चित्प्राणिस्थावरजंगमं मनुष्यमजीजनत् सैवा पराशक्तिः (ब्रह्मवृचोपनिषद्)।

४. योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते।
आस्तीर्य शेषमभजत्कल्पांते भगवान्प्रभुः।
× × ×
त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कार स्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधामात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्याविशेषतः।
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननीपरा।
—मार्कण्डेय पुराण-७८-४९, ५४-५५

५. त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यते च सर्वदा॥
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपांते जगतोऽस्य जगन्मये॥ —मा० पु० ७८.५६-५७

६. देवीभागवत, ७।५२।२-३
७. देवीमाहात्म्य, २।१३
८. मार्कण्डेयपुराण, ७८।६६-६९
९. वैकृतिक रहस्य, १-२
१०. श्रीमद्देवीभागवत पुराण, १।९।४०-५६
११. दुर्गासप्तशती वैकृतिकरहस्यम्, ७
१२. मार्कण्डेय पुराण-७९.१३-१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. क्षोभिताशेषपातालं धनुर्ज्यानिः स्वनेन ताम् ।
दिशो भुजसहस्रेण संमताद्व्याप्य संस्थिताम् ।।
ततः प्रववृते युद्धं तया देव्या सुरद्विषाम् ।
शस्त्रास्त्रैर्बहुधा मुक्तैततैरादिपितदिगंतरम् ।।
—मा० पु०-७९।३८-३९

१४. मार्कण्डेय पुराण, ७९।५०-७०

१५. मार्कण्डेयपुराण, ८१।५-७

१६. दुर्गासप्तशती वैकृतिकरहस्यम्, १।१४-१५

१७. ततो देवीशरीरात्त विनिष्कांतिभीषणा ।
चण्डिका शक्तिरत्युग्रा शिवाशतनिनादिनी ।।
—मा० पु०-८५।२२-२७

१८. मार्कण्डेयपुराण, ७९।८-१० एवम् ७९।२०-३१

१९. नमो दैव्यै महादैव्यै शिवायै सततं नमः ।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ।।
—मा०पु०-८०।७-१०

२०. या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।
—मा०पु०-८२।१२-३८

२१. द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते,
विद्याविधं निहिते यत्र गूढे ।
परं त्वविद्या ह्यमृत् तु विद्या,
विद्याविधेईशतेवस्तुसोऽन्यः ।।
— श्वेताश्वेतर-५।१

२२. दुर्गासप्तशती अर्गलास्तोत्रम्, पृ. ३१।१-२

२३. दुर्गासप्तशती अर्गलास्तोत्रम् पृ. १।३२-३४ श्लोक ३।२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या अकाल मृत्यु सम्भव है ?

अनिल कुमार जैन

क्या प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्याय सुनिश्चित है ? किस वस्तु में, किस समय, कौन-सी पर्याय उत्पन्न होगी—क्या यह निश्चित है ? जैन विद्वानों में, विशेषकर दिगम्बर आम्नाय के विद्वानों में यह चर्चा का विषय रहा है। इसके पक्ष व विपक्ष दोनों में शास्त्रों की अलग-अलग व्याख्या प्रस्तुत की गई हैं। लेकिन दोनों पक्ष एकमत नहीं हो सके हैं।

जो विद्वान् उपरोक्त प्रश्न का उत्तर 'हां' में देते हैं, उनके अनुसार इस परिणमनशील जगत् की परिणमन-व्यवस्था-क्रम नियमित है।[1] जैसे चलचित्र में दृश्य क्रमशः आते हैं, एक साथ नहीं; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में पर्यायें क्रमशः ही होती हैं, एक साथ नहीं। चलचित्र में यह भी निश्चित होता है कि किस दृश्य के बाद कौन-सा दृश्य आएगा, उसी प्रकार पर्यायों में भी यह निश्चित होता है कि किसके बाद कौन-सी पर्याय आवेगी। अपने मत को वे जिनेन्द्र देव की सर्वज्ञता से सिद्ध करते हैं। जिनेन्द्र भगवान् सभी द्रव्यों की भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी पर्यायों को जानते हैं। अतः जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव में जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है। इसी संदर्भ में एक बात यह भी आती है कि यदि किसी की सड़क-दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है तो उसे असामायिक निधन या अकाल-मृत्यु कहा जाता है। लेकिन उपरोक्त कथनानुसार अकाल-मृत्यु जैसी कोई घटना नहीं होती। हम जिसे अकाल-मृत्यु कहते हैं, वस्तुतः वह मृत्यु सकाल ही है क्योंकि उस समय यह दुर्घटना होनी थी तथा उस व्यक्ति की उसमें मृत्यु होनी थी, यह सब तय था।

काल नय तथा अकाल नय

जो विद्वान् इन व्याख्याओं से सन्तुष्ट नहीं हैं, उनका कहना है कि 'प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्यायें निश्चित हैं, अतः जब जैसा होना होगा, वैसा ही होगा;' ऐसी मान्यता रखना 'नियतिवाद' है।[2] नियतिवादियों का भी कहना है कि—'जिसका जिस समय जहां जो होना होता है वह होता ही है। तीक्ष्ण शस्त्र घात होने पर भी यदि मरण नहीं होता है तो व्यक्ति जीवित ही बच जाता है और जब मरने की घड़ी आती है तब बिना किसी कारण के ही जीवन की घड़ी बन्द हो जाती हैं। मनुष्यों को नियति के कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होता है वह अवश्य ही होगा। प्राणी कितना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी प्रयत्न कर लें पर जो नहीं होना होता है वह नहीं ही होगा और जो होना है उसे कोई रोक नहीं सकता। सब जीवों का सब कुछ नियत है, वह अपनी गति से होगा ही।' इस प्रकार के नियतिवाद की आचार्यों ने पर मतों (यानि कि जैन मत से भिन्न) में गणना की है तथा ऐसी मान्यता वाले को एकांत मिथ्यादृष्टि कहा है। जैन धर्म में सर्वदा नियति का एकांत नहीं है।

इन विद्वानों का कहना है कि जैन धर्म दर्शन का मूल सिद्धांत अनेकांत है। इसीलिए सर्वज्ञ देव ने नियति नय और अनियति नय इन दो परस्पर विरोधी नयों का उपदेश दिया है।[3] सभी कुछ काल व्यवस्थित है, ऐसा भी एकांत नहीं है। जिन जीवों का मरण शस्त्र-प्रहार आदि बाह्य कारणों के बिना होता है उनका मरणकाल-व्यवस्थित है। किन्तु शस्त्र-प्रहार आदि बाह्य कारणों से जिनका मरण होता है उनका अपमृत्यु काल उत्पन्न होता है। सर्वज्ञदेव ने भी काल-नय और अकाल-नय इस प्रकार परस्पर विरोधी दो नय कहे हैं। यदि सर्वज्ञदेव इन दोनों में से एक ही नय को कहते तो एकांत मिथ्यात्व का दूषण आ जाता। काल-नय, अकाल-नय का स्वरूप सर्वज्ञदेव ने इस प्रकार कहा है—

'काल-नय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन है। जैसे आम गर्मी के दिनों में पकता है। अतः काल नय से कार्य अपने व्यवस्थित समय पर होता है, अर्थात् काल के अनुसार होता है। अकाल नय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन नहीं है। वैसे—आम को पाल लगाकर कृत्रिम गर्मी से पका लिया जाता है। अतः अकाल नय से कार्य होने का काल व्यवस्थित नहीं है।

अकाम निर्जरा तथा सकाम निर्जरा

अकाम निर्जरा तथा सकाम निर्जरा को भी आचार्यों ने आम का उदाहरण देकर समझाया है। निर्जरा दो प्रकार की होती हैं। जब कर्मों का उदय अपने निश्चित समय पर होता है उसे अकाम निर्जरा कहते हैं और जब कर्मों को तप द्वारा समय से पहले ही उदय में लाया जाता है उसे सकाम निर्जरा कहते हैं। मुनिराज अपने कर्मों की निर्जरा सकाम रीति से करते हैं।

यहां यह कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि बांधे हुए कर्म एक निश्चित समय पर उदय में आएंगे ऐसा एकांत नहीं है। इसी प्रकार किसको कितने वर्ष तक जीना है, यह उसके बांधे हुए आयु कर्मों के खिरने पर निर्भर करता है। आयु कर्म के निषेक निश्चित होते हैं। वे प्रति समय एक निश्चित आवृत्ति में खिरते रहते हैं। सामान्य परिस्थितियों में इन निषेकों के खिरने की आवृति निश्चित रहती है। लेकिन सड़क-दुर्घटना आदि में मृत्यु के समय सारे निषेक एक साथ खिर जाते हैं। इस प्रकार निषेकों का खिरना समय के अधीन नहीं है। अतः मरण भी एक निश्चित समय पर होता है, हमेशा ऐसा ही मानना भी उचित नहीं है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

अभी तक हमने अकाल मरण पर अलग-अलग विद्वानों के अलग-अलग मतों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा की। सारांश में कुछ विद्वान् जिनेन्द्र देव की सर्वज्ञता को लेकर यह सिद्ध करते हैं कि अकाल मरण नाम की कोई बात ही नहीं होती। हम जिसे अकाल-मरण समझते हैं वह वस्तुतः सकाल मरण है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् को उस घटना के बारे में पहले से ही पता है कि वह घटना अमुक समय पर घटनी है। दूसरी ओर विद्वानों का कहना है कि जिनेन्द्र भगवान् की सर्वज्ञता के आधार पर अकाल मरण का खण्डन करने से एकांत मिथ्यात्व का दोष लगता है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् ने ही दो परस्पर विरोधी नयों, काल नय तथा अकाल नय और नियति नय तथा अनियति नय की बात कही है। अतः कालमरण काल व्यवस्थित भी है तथा काल व्यवस्थित नहीं भी है। यही अनेकांत है जो कि जैन धर्म का मूल सिद्धांत है।

इस प्रकार यह एक बहुत ही उलझी हुई समस्या है। इसके समाधान के लिए हम विज्ञान का सहारा लेना चाहेंगे। विज्ञान जिस बात को प्रयोग द्वारा सिद्ध कर देता है, उसे वह सत्य मानता है। जिस बात को प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सके, उसे हमको भी स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पहले मैं विज्ञान की अलग-अलग विधाओं—आहार एवं स्वास्थ्य विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा जीव विज्ञान के आधार पर यह चर्चा करना चाहूंगा कि क्या किसी जीव या व्यक्ति की आयु/उम्र बढ़ भी सकती है ? यदि उम्र बढ़ सकती है तो उम्र घट भी सकती है। अतः अकाल मरण स्वतः ही सिद्ध हो जायेगा।

आहार एवं स्वास्थ्य विज्ञान

हमारे खान-पान का स्वास्थ्य पर सीधा असर पड़ता है। यह एक आम धारणा है कि जो व्यक्ति नित्य-प्रति व्यायाम करता है तथा सात्विक भोजन करता है तथा अपने स्वास्थ्य के प्रति सजग रहता है उसकी आयु औसत से कहीं अधिक होती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने खान-पान का विशेष ध्यान नहीं रखते तथा जो बीमार रहते हैं उनकी आयु औसत से कम ही होती है। जापान तथा रूस में अनेकों ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जिनकी आयु सौ वर्ष के लगभग या उससे अधिक है। ये लोग शाकाहार लेना पसन्द करते हैं, पहाड़ों पर खुली हवा में रहते हैं तथा सामान्यतः प्राकृतिक चिकित्सा पर ही निर्भर रहते हैं। यहां के लोगों की आम धारणा भी वही है कि जो लोग जंगलों/खेतों/पहाड़ों पर रहना पसन्द करते हैं तथा जो शाकाहारी हैं उनकी आयु सौ वर्ष के आसपास तो होती ही है।

यहां मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि खान-पान ठीक होने से स्वास्थ्य भी ठीक रहता है तथा व्यक्ति अपनी पूरी आयु जीता है। अन्यथा वह अपनी पूरी आयु नहीं जी पाता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि खान-पान सही रखने से भी आयु औसत से बढ़ सकती है।

अतः आहार एवं स्वास्थ्य विज्ञान की दृष्टि से व्यक्ति औसत से अधिक आयु पा सकता है और यदि विषपान करे तो अपनी आयु पूरी करने से पहले भी मर सकता है।

भौतिक विज्ञान

महान् वैज्ञानिक आइन्सटीन ने 'सापेक्षवाद का सिद्धांत' प्रस्तुत किया। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धांत ने विश्व भर के न सिर्फ वैज्ञानिकों बल्कि अनेकों दार्शनिकों को भी प्रभावित किया है। इसी सिद्धांत के अन्तर्गत उन्होंने यह सिद्ध किया कि दो घटनाओं के मध्य का समय-अन्तराल दो अलग-अलग फ्रेमों (frames) में अलग-अलग होगा।

मान लो कि दो फ्रेम S तथा S^1 हैं। फ्रेम S फ्रेम S^1 के सापेक्ष V गति से परिभ्रमण कर रहा है। दोनों फ्रेमों में एक-एक घड़ी रखी है। चूंकि S^1 फ्रेम स्थिर है, अतः इसमें रखी घड़ी भी स्थिर है। एक प्रेक्षक इसी फ्रेम में बैठा घटनाओं का निरीक्षण कर रहा है। दो घटनाओं के मध्य फ्रेम S^1 में समय-अन्तराल यदि T_0 है। तो फ्रेम S में इन्हीं दो घटनाओं के मध्य का समय अन्तराल T निम्न प्रकार से होगा—

$$T = \frac{T_0}{\sqrt{1-\frac{V^2}{C^2}}}$$

यहां V फ्रेम S^1 की फ्रेम S के सापेक्ष गति है तथा C प्रकाश का वेग है जिसका मान '३×१०^{१०} सेमी० एक सेकिण्ड' होता है।

उपरोक्त सूत्र से स्पष्ट है कि फ्रेम S में समय अन्तराल T फ्रेम S^1 में ओब्जर्व्ड (निरीक्षण) किए गए समय-अन्तराल T_0 से अधिक होगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि फ्रेम S में घड़ियां धीमी गति से चलेगी।

यदि हम फ्रेम S^1 में बैठे दो घटनाओं को देख रहे हैं। ये दो घटनाएं माना कि दो घण्टों में घटित होती हैं। फ्रेम S में बैठे प्रेक्षक को तो यही महसूस होगा कि दो घटनाओं के मध्य का समय-अन्तराल दो घण्टे हैं। लेकिन हमारे अनुसार समय दो घण्टे से अधिक होगा। इसको हम किसी व्यक्ति की आयु के सन्दर्भ में इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि किसी व्यक्ति की आयु सौ वर्ष की है। यदि वह फ्रेम S में V गति से परिभ्रमण करने लगे तो S^1 में हमें उसकी आयु सौ वर्ष से अधिक महसूस होगी। या हम कह सकते हैं कि व्यक्ति की आयु तेज गति से घूमने पर बढ़ जाती है।

इस प्रकार 'सापेक्षवाद के सिद्धांत' से यही सिद्ध होता है कि व्यक्ति की आयु बढ़ भी सकती है।

जीव-विज्ञान

अब हम प्रयोग द्वारा यह देखना चाहेंगे कि किसी जीव की आयु कैसे बढ़ती है। कुछ वर्ष पूर्व एक समाचार छपा था कि रूस के सुदूर पूर्वी बर्फीले क्षेत्र में कुछ खान मजदूर सोने की खानों में खुदाई कर रहे थे। वहां उन्होंने ग्यारह मीटर मोटी बर्फ की तह के नीचे दबे छिपकलीनुमा एक ऐसे जन्तु को पाया जो जीवित था। इस प्राणी का वैज्ञानिक परीक्षण कराया गया। कार्बन-डेटिंग से पता चला कि यह प्राणी ९० वर्ष पूर्व परमाफ्रोस्ट में फ्रीज हो गया था। सामान्यतः इसकी आयु दस वर्ष की होती है। लेकिन ९० वर्षों तक सुषुप्त अवस्था में फ्रीज रहने के बाद पुनः उसमें हलन-चलन प्रारम्भ हो गई तथा सामान्य रीति से जीने लगा। वैज्ञानिकों के अनुसार इस प्राणी का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लीवर सबसे बड़ा होता है, इस लीवर का वजन शरीर के पूरे वजन का लगभग एक तिहाई होता है। जब शरीर ठंडा हो जाता है तो इस लीवर में पूर्व निहित ग्लाइकोजन ग्लिसरीन में परिवर्तित हो जाता है जो कि पूरे शरीर में फैल जाता है। ग्लिसरीन एक अच्छा एन्टीफ्रीज ((anti-freege) होने से वह जानवरों की कोशिकाओं को क्रिस्टल होने से बचा लेता है।

उस प्राणी के इतने समय तक जीवित रहे जाने का कारण कुछ भी हो, निष्कर्ष यह है कि जीवित प्राणियों की आयु सामान्य से दस गुने तक बढ़ सकती है। उपरोक्त प्राणी की सामान्य आयु तो मात्र दस वर्ष की ही होती है, लेकिन वह नब्बे वर्षों तक जीवित रह सका।

जीवित प्राणियों के फ्रीज करने की प्रक्रिया को जीव-विज्ञान के विद्यार्थियों को प्रयोग करके भी दिखाया जाता है। प्रयोग में, द्रवित-नाइट्रोजन (जिसका तापमान शून्य से काफी कम होता है) में एक छोटी जीवित मछली को डाल दिया जाता है। अति-शीत होने से मछली फ्रीज होने लगती है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि वह पूर्ण रूप से फ्रीज होने से सुषुप्त अवस्था में आ जाती है। इस मछली को जब तक चाहें तब तक इस अवस्था में रखा जा सकता है। इस फ्रीज मछली को द्रवित-नाइट्रोजन से बाहर निकाल कर देखें तो यह एक सूखे कागज की तरह लगेगी। इसे छटकारने से भी कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। यदि फिर से हम इसे पूर्वावस्था में लाना चाहें तो इसे कुछ गर्मी देनी होगी। सामान्य ताप पाते ही वह फिर से सामान्य अवस्था में आ जाती है और फड़फड़ाने लगती है। जैसा कि ऊपर हमने छिपकलीनुमा प्राणी के बारे में कहा, वैसे ही मछली को हम जब तक चाहें तब तक इस फ्रीज अवस्था में रख सकते हैं और इसे भी सामान्य आयु से अधिक समय तक जीवित रख सकते हैं।

गाय व भैंस जैसे उपयोगी जानवरों में कृत्रिम गर्भाधान कराना एक सामान्य-सी बात है। इसके लिए अच्छे किस्म के नर जानवरों के वीर्य को मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट कराया जाता है। कई बार तो यह वीर्य विदेशों तक से भी मंगाया जाता है। वीर्य भी तीन इन्द्रिय जीव होता है। इसकी भी सामान्य आयु कुछ घंटों की ही होती है। लेकिन इसे भी फ्रीज करके कई महीनों तक जीवित रखा जाता है। आजकल विदेशों में तो मानव-वीर्य के भी बैंक खुल गए हैं। जिसमें उनके वीर्य को वर्षों तक सुरक्षित रखने की व्यवस्था रहती है। इससे भी स्पष्ट है कि जीवित प्राणी (जैसे — वीर्य) की भी आयु वर्षों तक बढ़ाई जा सकती है तथा उन्हें वर्षों तक जीवित रखा जा सकता है।

जीवित प्राणियों के फ्रीज हो सकने के इन उदाहरणों से ही प्रेरित होकर अमेरिका के कुछ धनी लोगों ने एक संस्था बनाई, जिसका नाम रखा—'फ्रीज योरसैल्फ।'(Freege yourself) इस संस्था का उद्देश्य मनुष्यों को वर्षों तक जीवित रखने का था। युवक जो ऐसी बीमारी से ग्रस्त हैं जिसका इलाज आज सम्भव नहीं है तथा उस बीमारी के रहते उनकी कुछ महिनों या वर्षों में मृत्यु निश्चित है; लेकिन वे और जीवित रहना चाहते हैं तथा आने वाले कल को देखना चाहते हैं, वे स्वयं को फ्रीज करा सकते हैं। कैन्सर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा एड्स जैसी बीमारियों का इलाज आज सम्भव नहीं है, लेकिन विज्ञान की प्रगति को देखते हुए लगता है कि आने वाले २०-२५ वर्षों में इनका इलाज सम्भव हो सकेगा। जो व्यक्ति इन बीमारियों से ग्रस्त हैं, उनकी मौत तो सामने ही खड़ी दिखती है। यदि इन बीमारों की उम्र कम है और वे और जीना चाहते हैं तो वे स्वयं को २०-२५ वर्षों के लिए फ्रीज करा सकते हैं। २०-२५ वर्ष बाद इन्हें पुनः सामान्य अवस्था में लाया जा सकेगा तथा इलाज भी कराया जा सकेगा।

उक्त सारे विवरण से यही निष्कर्ष निकलता है कि आयु बढ़ भी सकती है।

दार्शनिक समाधान

यदि किसी भी जीवित प्राणी की आयु बढ़ सकती है तो एक गंभीर प्रश्न पैदा हो जाता है कि जिस जीव ने जितना आयु का बन्ध किया है उसे उसी के हिसाब से जिन्दा रहना चाहिए; लेकिन आयु बढ़ने से यह व्यवस्था तो गड़बड़ा जायेगी। लेकिन ऐसा सोचना गलत है। जीव अपने बांधे हुए आयु कर्म के हिसाब से ही जीएगा। वस्तुतः जीव आयु कर्म के निषेक बांधता है जो कि निश्चित हैं। ये निषेक प्रति समय खिरते रहते हैं। लेकिन ये किस आवृति से खिरेगें ? यह बात समय के सापेक्ष (यानि की काल-नियत) नहीं है। यह मौजूदा परिस्थितियों पर निर्भर करती है। निषेक खिरने की दर घट भी सकती है और बढ़ भी सकती है तथा सामान्य परिस्थितियों में सामान्य भी हो सकती है। यदि किसी को फ्रीज कर दिया जाए तो निषेकों के खिरने की दर बहुत धीमी होगी और यदि कहीं दुर्घटना हो जाय या कोई उसकी हत्या कर दे तो निषेक खिरने की दर बहुत तेज हो जायेगी। हो सकता है कि सारे निषेक एक साथ ही खिर जाएं।

इस प्रकार कोई कितने वर्ष जीवित रहेगा यह उसके बांधे हुए निषेकों के खिरने की दर पर निर्भर करता है। निषेक किस गति से खिरेंगे, यह मौजूदा परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अतः आयु भी इस दृष्टि से, काल-नियत नहीं है और वह बढ़ भी सकती है। जब आयु बढ़ सकती है तो आयु कम भी हो सकती है तथा अकाल-मरण भी सम्भव है।

यहां पर नियतिवादी फ्रीज किए गए जीव के बारे में पुनः अपनी वही बात दोहरा सकता है कि उस जीव को फ्रीज होना ही था, उसके निषेक धीमी गति से खिरने ही थे, उसे अधिक समय तक जीवित रहना ही था। लेकिन ये सब कथन भी तर्क संगत नजर नहीं आते हैं। एक बात तो यह है कि किसी भी जीव को फ्रीज किया जा सकता है। जैसे वीर्य को फ्रीज किया। वीर्य में भी सैकड़ों जीवाणु होते हैं। किसी अमुक वीर्य-जीवाणु को फ्रीज किया जाएगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक वीर्य-जीवाणु के फ्रीज किए जाने की समान सम्भावना है। अतः सम्भावना (probability) के आधार पर यह सत्य नहीं भी होता है। दूसरे आयु का थोड़ा-बहुत अन्तर होना अलग बात है। लेकिन सामान्य से दस-दस या बीस-बीस गुना आयु बढ़ सकना एक अलग बात है। किसी भी प्राणी को फ्रीज करके उसकी आयु सामान्य से कई गुना तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार नियतिवादियों की अवधारणा सही महसूस नहीं होती है।

उपरोक्त वैज्ञानिक आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी जीव की आयु बढ़ भी सकती है और कम भी हो सकती है। अकाल-मृत्यु भी सम्भव है। शास्त्रों में कथन है कि अकाल मृत्यु निम्न कारणों से हो सकती है—विष-भक्षण से, वेदना की पीड़ा से, रक्त बह जाने से, भय से, शस्त्रघात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के विरोध से।[४] अकाल मृत्यु के समय बांधे हुए आयु कर्म के सभी निषेक एक साथ खिर जाते हैं।

सन्दर्भ

१. 'क्रमबद्ध पर्याय', ले०—डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल।

२. नियतिवाद', ले०—प्रो. महेन्द्र कुमारजी न्यायतीर्थ, 'अनेकांत' नवम्बर १९५६, पृ. ८५

३. 'अकाल-मरण (सैद्धांतिक चर्चा : प्रश्नोत्तर), ले०—ब्र. रतनचन्द जैन, मुख्त्यार।

४. 'भावपाहुड'—आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा—२५,२६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमद्भागवतीय आख्यानों का विवेचन

[*] हरिशंकर पाण्डेय

श्रीमद्भागवत महापुराण भगवद्विभूति[1] अथवा विभूतियों का संग्रह है।[2] यह साक्षात् भगवान् के द्वारा कथित[3] भगवत्स्वरूप ही है। भगवत्महिमा, साक्षात्ज्ञानरूप इस महापुराण को विद्वान् लोग 'भागवत' कहते हैं।[4] सम्पूर्ण संसार के दुःखनिवृत्यर्थ स्वयं भगवान् ने ही सनकादि ऋषियों के प्रति इसे उद्दिष्ट किया था।[5]

श्रीमद्भागवत में विविध विषयों का व्याख्यान किया गया है। ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय उपस्थापित कर भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। विविध आख्यानों के माध्यम से भक्ति तत्त्व एवं दर्शन के अनसुलझे प्रश्नों का सरल समाधान उपस्थित किया गया है। आख्यानों की संख्या शताधिक है।

आख्यान

आङ् उपसर्गपूर्वक 'ख्या प्रकथने' (अदादिगणीया धातु) से 'करणाधिकरणयोश्च'[6] सूत्र से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर आख्यान शब्द निष्पन्न होता है। विभिन्न कोशकारों ने प्रकथन, निवेदन, कथाप्रसंग, प्रतिवचन, प्रत्युत्तर, पुराण, इतिहास, चरित, कथांश और पूर्ववृतोक्ति आदि को आख्यान शब्द के समानार्थक माना है। बोलना, घोषणा करना, पुरानी कहानी आदि अर्थों में आख्यान शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[7] "त्वक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासुप्रतिपर्यनवः।"[8] में करण अर्थ में एवं 'प्रश्नाख्यानयोः' में प्रतिवचन एवं प्रत्युत्तर अर्थ में आख्यान शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। पुरानी कथाओं के अर्थ में महाभारत में इस शब्द का प्रयोग हुआ है :—

योऽधीते चतुरोवेदान् सर्वाख्यानपञ्चमान्।[9]

पूर्ववर्ती घटनाओं का पुनर्कथन आख्यान है।[10] हलायुध कोश के अनुसार आख्यान शब्द का अर्थ कथन होता है।[11] 'शब्द स्तोम महानिधि' के अनुसार इसका अर्थ 'पुरावृत्त-कथन' है।[12] कथा अर्थ में नपुंसकलिंग में आख्यान शब्द का प्रयोग होता है।[13]

आचार्य हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने कथा के अन्तर्गत ही आख्यान को रखा है।[14] साहित्य दर्पण में पुरावृतोक्ति या पुराकथन के अर्थ में आख्यान शब्द का प्रयोग किया गया है।[15] पौराणिक, ऐतिहासिक कथावृत्त के अर्थ में भी आख्यान शब्द का प्रयोग मिलता है।[16] महाभारतादि आर्षकाव्यों के सर्गार्थ में भी आख्यान शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

श्रीमद्भागवत में आख्यान[17], चरित[18], इतिहास[19], कथा[20], पुराकथा[21] आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। वैसी कथा को, जिसमें किसी मुख्य पात्र अतीत जीवन चरित से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों का यथारूप विवरण दिया गया हो, उसे आख्यान कहेंगे। इसमें धर्म, ज्ञान, भक्ति कर्म, पाप-पुण्य, शाप-वरदान, युद्ध, दान, यज्ञ आदि विस्तृत विवेचन होता है।

भागवत में एक स्थल पर स्वयं भागवत महापुराण को 'महदाख्यान' कहा गया है, जिसमें भक्तों के परमलक्ष्य भगवान् विष्णु किंवा श्रीकृष्ण के गुणों का विस्तृत विवेचन है :—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णु जनप्रियः॥[२३]

इस प्रकार पुराण, इतिहास, पुरावृत्त, चरित, कथा, कथांश, पुरानी कहानी आदि अर्थों में आख्यान शब्द का प्रयोग किया गया है। सामान्यतया कथा, कथानक, आख्यान-वृतान्त आदि का आख्यान में ही समाहरण हो जाता है। आख्यान का अभिधेय ऐतिहासिक कथानक ही होता है।

आख्यान और उपाख्यान सामान्यतः दोनों एक ही अर्थ के वाचक परिलक्षित होते हैं, लेकिन इनमें किञ्चिदन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है। छोटे कथांश को उपाख्यान एवं वृहद् कथा को आख्यान कहते हैं। श्रीधराचार्य ने आख्यान और उपाख्यान के परस्पर वैलक्षण्य को इस प्रकार प्रकट किया है—

स्वयं दृष्टार्थकथनं प्रादुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥[२४]

अर्थात् स्वयमेव वक्ता के द्वारा प्रत्यक्ष कृत घटनात्मक कथन को आख्यान एवं किसी के द्वारा सुनकर प्रवाचित प्रवचन को उपाख्यान कहते हैं। विष्णुपुराण में आख्यान और उपाख्यान को पुराण का एक तत्त्व माना गया है।[२५]

वर्गीकरण

श्रीमद्भागवतकार ने अनेक स्थलों पर ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि को सम्पुष्ट करने के लिए विभिन्न आख्यानों को उपस्थित किया है। श्लोक, अध्याय, पात्र, कथावस्तु के स्रोत एवं प्रतिपाद्यादि के आधार पर इन भागवतीय आख्यानों के अनेक भेद किए जा सकते हैं।

(i) सर्वप्रथम श्लोकों के आधार पर आख्यान को छः वर्गों में रखा गया है :—

(क) प्रथम वर्ग

इस वर्ग में वैसे आख्यानों को सम्मिलित किया गया है जो मात्र एक श्लोक में किसी अन्य कथा प्रसंग में उल्लिखित किए गए हैं। यथा—जह्नु आख्यान, शिवि आख्यान एवं नहुष आख्यान आदि।

(ख) द्वितीय वर्ग

इस वर्ग में वैसे आख्यानों को रखा गया है जो दो से लेकर १० श्लोक तक निबद्ध हैं। ऐसे १८ आख्यान हैं—कच्छप, कर्ण, कल्कि, खट्वांगजनक, जनमेजय, गय, धन्वन्तरि, अश्वत्थामा, द्रोण, राहु-केतु, हंस, हयग्रीव, नर-नारायण, निषाद,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध, भृगु, दीर्घतमा आख्यान आदि ।

(ग) तृतीय वर्ग

इसमें वैसे आख्यानों को रखा गया है जिनमें १० से २० तक श्लोक हैं । यथा – गणिका, चन्द्र, मांधाता और रन्तिदेव आख्यान ।

(घ) चतुर्थ वर्ग

इसमें २० से ५० श्लोकीय परिमाण वाले आख्यानों को रखा गया है । यथा— दुष्यन्त शकुन्तला-आख्यान, नग्नजिताख्यान, नलकुबर मणिग्रीव आख्यान, नृगाख्यान, प्रियव्रत-वाराह सगरादि आख्यान ।

(ङ) पंचम वर्ग

इस वर्ग में ५० से १०० श्लोक वाले आख्यानों को रखा गया है । यथा वेन, अम्बरीष, ब्रह्मा, मत्स्य, उषा-अनिरुद्ध, गजेन्द्र, जयविजय, परशुराम एवं पुरुरवा-उर्वशी आख्यान ।

(च) षष्ठ वर्ग

इस वर्ग में १०० से अधिक श्लोक वाले आख्यानों को रखा गया है । नृसिंह, मार्कण्डेय, वामन, शिव, अवधूत, वृत्रासुर, चित्रकेतु, ध्रुव, पृथु आदि आख्यान इस संवर्ग में आते हैं ।

(ii) **अध्यायों के आधार पर आख्यानों को पांच वर्गों में विभाजित किया गया है:—**

(क) एकाध्यायात्मक आख्यान

जिन आख्यानों का परिमाण केवल एक अध्याय में ही सीमित है, उन्हें इस वर्ग में रखा गया है । यथा गणिका, निषाद, जह्नु, नृग, अश्वत्थामा, भृगु, जनमेजय, जनक, चन्द्र, दुष्यन्त, धन्वन्तरि और नहुषाख्यान ।

(ख) द्व्याध्यायात्मक-आख्यान

इस वर्ग में दो अध्याय परिमाण वाले आख्यानों को रखा गया है । यथा स्यमन्तक, द्रोण, वेण, ययाति, खट्वांग, अम्बरीष, हंस, भगीरथ, अजामिल, उषा-अनिरुद्ध, कर्ण, पुरुरवा-उर्वशी एवं नग्नजित् आख्यान ।

(ग) त्र्याध्यायात्मक आख्यान

तीन अध्यायों में समाप्त होने वाले आख्यानों को इस वर्ग में रखा गया है । यथा कच्छपावधूत, कल्कि, राम, नर-नारायण, बुद्ध, मार्कण्डेय और राहु आख्यान ।

(घ) चतुराध्यायात्मक आख्यान

चार अध्याय वाले आख्यानों को इस संवर्ग में रखा गया है । यथा गजेन्द्र, शिव, प्रियव्रत, हयग्रीव, ब्रह्मा, चित्रकेतु, मत्स्य, ऋषभ और वाराह आख्यान ।

(ङ) अन्य आख्यान

(i) पांच अध्यायों में समाप्त होने वाला एक आख्यान—वृत्रासुर आख्यान ।

(ii) छः अध्यायों के परिमाण वाले दो आख्यान—ध्रुव और परशुराम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आख्यान।

(iii) आठ, नौ एवं दस अध्यायों वाला एक-एक आख्यान— क्रमशः— वामन, पृथु और कपिलाख्यान।

(iii) मुख्यपात्र के आधार पर आख्यानों के सात विभाजन किए जा सकते हैं :—

(क) देवविषयक आख्यान

जिन आख्यानों का सम्बन्ध किसी देवता के चरित प्रतिपादन से है, उन्हें इस संवर्ग में रखा गया है। यथा कच्छप, कल्कि, जय-विजय, धन्वन्तरि, शिव, नर-नारायण, नृसिंह, परशुराम, ब्रह्मा, बुद्ध, मत्स्य, वाराह, हंस और हयग्रीव आख्यान।

(ख) ऋषि विषयक आख्यान

ऋषि चरित से सम्बन्धित आख्यानों को इस वर्ग में रखा गया है। यथा जह्नु, भृगु, मार्कण्डेय, अवधूत, दीर्घतमा और कपिलाख्यान।

(ग) ब्राह्मण विषयक आख्यान

जिनके मुख्य पात्र ब्राह्मण हैं, उन्हें इस वर्ग में रखा गया है। यथा अश्वत्थामा, द्रोण और ब्राह्मण आख्यान।

(घ) राजन्य वर्ग से सम्बन्धित आख्यान

इस वर्ग में वैसे आख्यानों को रखा गया है जिनका मुख्य पात्र कोई राजवर्ग का पुरुष है। यथा नृग, जनक, वेन, प्रियव्रत, जन्मेजय, अम्बरीष, ययाति, पृथु, दुष्यन्त, उषा-अनिरुद्ध, रन्तिदेव, ऋषभ, पुरुरवा, ध्रुव, शिबि, मांधाता, नग्नजित्, कर्ण, खट्वांग, सगर, राम, नहुष और भगीरथ आख्यान।

(ङ) नीच कुलोत्पन्नपात्र विषयक आख्यान

नीच कुल के पात्रों से सम्बद्ध आख्यान इस वर्ग में रखे गये हैं। यथा अजामिल, गणिका और निषाद का आख्यान।

(च) ग्रह-नक्षत्र विषयक आख्यान

ग्रहों और नक्षत्रों से सम्बन्धित आख्यानों को इस वर्ग में सम्मिलित किया गया है। यथा चन्द्रमा और राहु-केतु आख्यान।

(छ) अन्य आख्यान

गन्धर्व, राक्षस, विद्याधर, पशु और रत्न आदि से सम्बन्धित आख्यानों को इस वर्ग में रखा गया है। यथा नलकुबर-मणिग्रीव, वृत्रासुर, चित्रकेतु, गजेन्द्र और स्यमन्तक आख्यान।

(iv) कथावस्तु के स्रोत के आधार पर श्रीमद्भागवतीय आख्यानों को पांच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(i) पौराणिक आख्यान
(ii) निजंधरी आख्यान
(iii) ऐतिहासिक आख्यान
(iv) आध्यात्मिक आख्यान
(v) प्रेमाख्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) **पौराणिक आख्यान**

पुराणों के अंशभूत कथा विशेष को पौराणिक आख्यान कहते हैं। विभिन्न देवी-देवताओं के चरित माध्यम से हिन्दु संस्कृति के विभिन्न तत्त्व—धर्मदर्शन, भक्ति, ज्ञान, सम्यक् आचरण, तत्त्व मीमांसा आदि की विस्तृत विवेचना होती है। यथा वाराह, वामन, कपिल आदि। ये आख्यान किसी युग में घटित घटनाक्रम को प्रकट करते हैं। इनमें किसी देश या कालविशेष के धार्मिक विश्वास, प्राचीन देवों के चरित, जनता की अलौकिक तथा अद्भुत परम्पराओं एवं सृष्टि-रचना का वर्णन उपलब्ध होता है।

(ii) **निजंधरी आख्यान**

जब किसी आख्यान के पात्र देवत्व की कोटि से अलग होकर मनुष्यों की श्रेणी में आता हो तो उस आख्यान विशेष को निजंधरी आख्यान कहते हैं। 'निजं धरते धारयति वा' इस व्युत्पत्ति के आधार पर उन्हीं आख्यानों को निजंधरी कहेंगे जिसमें अपने बारे में कुछ कहा गया हो या स्वकीय इतिहास का वर्णन हो। भागवत महापुराण में अनेकों निजंधरी आख्यान हैं। यथा—रामाख्यान, कपिलाख्यान आदि। पौराणिक आख्यान निजंधरी के ही विकसित रूप कहे जा सकते हैं।

(iii) **ऐतिहासिक आख्यान**

जिसमें इतिहास तत्त्व की प्रधानता हो उसे ऐतिहासिक आख्यान कहते हैं। अम्बरीष, भगीरथ, बुद्ध आदि के आख्यान इस कोटि में रखे जा सकते हैं।

(iv) **आध्यात्मिक आख्यान**

जिन आख्यानों में ईश्वर, माया, जीव और जगत् के स्वरूप को कथात्मक एवं रूपकात्मक प्रस्तुत किया गया हो उसे आध्यात्मिक आख्यान कहते हैं। पौराणिक आख्यान ही आध्यात्मिक आख्यान भी हैं।

(v) **प्रेमाख्यान**

जिसमें प्रेम तत्त्व की प्रधानता हो उसे प्रेमाख्यान कहते हैं। श्रीमद्भागवत में तीन प्रेमाख्यान आए हैं—उषा-अनिरुद्ध, दुष्यन्त-शकुन्तला और पुरुरवा-उर्वशी। बाद के साहित्य में इन्हीं तीन आख्यानों को लेकर अनेक नाटक, काव्य आदि रचे गये हैं।

(v) **प्रतिपाद्य के आधार पर आख्यानों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—**

(क) **भक्ति के प्रतिपादक आख्यान**

इस वर्ग में वैसे आख्यानों को रखा गया है जिनका मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति हैं, अथवा जिनमें भक्ति की सर्वाङ्गीण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ध्रुव, अम्बरीष, नलकुबर-मणिग्रीव, कपिल, नृग, वृत्रासुर, गजेन्द्र, प्रियव्रत, पृथु, गणिका, अजामिल, मार्कण्डेय, प्रह्लाद आदि के आख्यान भक्ति के प्रतिपादक हैं। इनमें भक्ति के विविध रूपों का विवेचन हुआ। नलकुबर-मणिग्रीव का एक श्लोक द्रष्टव्य है, जिसमें षोढा भक्ति का निरूपण किया गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाणी गुणानुकथने श्रवणं कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥[५]

(ख) ज्ञान के प्रतिपादक आख्यान

विविध ज्ञान-विज्ञान के निरूपण के लिए जिन आख्यानों का उपन्यास हुआ है उन्हें ही इस संवर्ग में रखा गया है। यथा कपिल आख्यान, अवधूत आख्यान, विदूर-आख्यान आदि।

(ग) वैराग्यमूलक आख्यान

जिनका मुख्य विषय वैराग्य है वैसे ही आख्यानों को इस संवर्ग में रखा गया है। यथा ययाति, गणिका, अवधूत, ब्राह्मण, चित्रकेतु आदि के आख्यान।

(घ) लोकमङ्गल के प्रतिपादक

भागवत में कतिपय आख्यान लोकमङ्गल के प्रतिपादक भी हैं। उनसे श्रीमद्-भागवत की माङ्गलिक चेतना का स्पष्ट प्रस्तुतीकरण होता है। यथा रन्तिदेव, भगीरथ, कच्छप, कल्कि, वाराह, वामन आदि आख्यानों का उपस्थापन लोकोद्धार किंवा लोक-कल्याण के लिए किया गया है।

(ङ) अवतार के प्रतिपादक आख्यान

कुछ ऐसे आख्यान भी हैं, जो भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारों का प्रतिपादन भी करते हैं। उनमें अवतार के कारण, अवतार का प्रयोजन आदि विवेचित है। यथा कच्छप, कल्कि, वाराह, वामन, हयग्रीव, शिव, राम आदि के आख्यान।

(च) विलास वर्णन प्रधान

कुछ आख्यानों में केवल भोग-विलास की प्रधानता है। यथा चंद्रमा, दुष्यन्त-शकुन्तला एवं पुरुरवा-उर्वशी के आख्यान।

संदर्भ —(अगले अंक में समाप्य)

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण, ३.८.८
२. तत्रैव २.७.५१
३. ,, २.८.२८
४. ,, ८.४.१३
५. ,, ३.८.२
६. ,, पाणिनि, अष्टाध्यायी. ३.३.११७
७. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. १३९
८. पाणिनि, अष्टाध्यायी—क्रमशः १.४.९, ८.२.१०५ और
—वाचस्पत्यम् पृ. ६१४ तथा साहित्य दर्पण ६.३२५
९. महाभारत ३.१८.९
१०. बाणभट्ट, शब्दरत्नाकर, श्लोक संख्या १८३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. हलायुध कोश पृष्ठ संख्या १४७
१२. शब्दस्तोम् निधि पृ. ९१
१३. वाङ्मयार्णवः पृ. ४९०
१४. काव्यानुशासन ८.७-८, साहित्यदर्पण ६.३३४-३३५
१५. साहित्यदर्पण — नाट्यालंकार वर्णन प्रसंग में ६.२११
१६. कुल्लूक भट्ट — मनुस्मृति टीका, अन्वर्थमुक्तावली ३।२३२
१७. श्रीमद्भागवत महापुराण, १.७.११,६.१३.२२,२३,८.२४.५९,७.१०.४६,४७
९.५.२७,९.४.१२, माहात्म्य ५.९०
१८. तत्रैव — ४.२३.३९,५.६.१६,८.२४.४,८.२३.२८,३०
१९. ,, —१.८.४६,६.१४.९,६.२.४७,६.१७.४०,४१
२०. ,, ३.१३.५०
२१. ,, ३.१३.५०
२२. श्रीमद्भागवत महापुराण १.७.११
२३. डॉ० बलदेव उपाध्याय, पुराणविमर्श पृ. ६६
२४. बिष्णुपुराण ३.६.१५
२५. श्रीमद्भागवत महापुराण १०.१०.३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और शांतिशोध

☐ बच्छराज दूगड़

शांति से सम्बन्धित दो अवधारणाएं हैं—पश्चिमी अवधारणा और भारतीय अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध या आयोजित सामूहिक हिंसा का अभाव शांति है। हिंसा, तनाव, शोषण और संरचनात्मक हिंसा के अभाव को भी शांति कहा जा सकता है। इस दृष्टि से नौकरशाही के सम्बन्धों में, जमींदार प्रथा के कृषक और भूमिपति के सम्बन्धों में, उद्योगों के वितरण और उत्पादन सम्बन्धों में, कॉलेज और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी और प्राध्यापकों के सम्बन्धों में शोषण न हो, तनाव न हो ऐसी स्थिति को भी शांति ही कहा जाएगा। शांति से सम्बन्धित उपर्युक्त विचारों को निषेधात्मक शांति कहा जा सकता है। गाल्टुंग भी केवल युद्ध या हिंसा के अभाव को निषेधात्मक शांति ही कहते हैं। इसलिए शांति के दूसरे पक्ष भावात्मक शांति को भी हमें देखना होगा।

भारतीय शांति चिंतक सुगतदास के अनुसार सामाजिक और मानवीय विकास की प्रक्रिया को भावात्मक शांति कहा जा सकता है। इनके अनुसार शांति का यह अर्थ गांधी ने प्रारम्भ किया था पर उन्होंने शांति के प्रतिपक्ष हिंसा की व्याख्या पहले की थी। हिंसा से उनका अर्थ केवल शक्ति प्रयोग, खूनी क्रांति आदि नहीं पर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण भी है। भले ही यह शोषण एक राष्ट्र के द्वारा किसी दूसरे राष्ट्र का किया जाय या एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति का या किसी पुरुष द्वारा स्त्री का शोषण किया जाय। जबकि शांति का रचनात्मक या भावात्मक स्वरूप है समाज व मनुष्य का समग्र विकास। एक विचार अभी भी बना हुआ है कि शांति का अर्थ है एकता, सहयोग और स्थिरता। इसके साथ यह भी सत्य है कि शांति का अनुभव समता में होता है। यद्यपि समता व स्थिरता का तत्व यूरोपीय समाज तंत्र व भारतीय जाति व्यवस्था से प्राप्त हुआ है लेकिन ये तत्व इसके परिणाम थे कि एक समूह दूसरे पर प्रभुत्व जमाता है या बलपूर्वक उन पर अधिकार करता है। ऐसे लोगों को शारीरिक या मानसिक रूप से स्वस्थ नहीं माना जा सकता। इसलिए एक तरफ तो ऐसी हिंसा व शोषण रुकना चाहिए जबकि दूसरी तरफ उनका समग्र विकास भी होना चाहिए—यही शांति का समग्र रूप है। शांति का केन्द्र मानवीय मस्तिष्क है, इसलिए अंतिम रूप से शांति व्यक्ति को महसूस होनी चाहिए। एक व्यक्ति जब शांति की अवस्था में होगा तब यह केवल अवरोधों व तनावों से ही स्वतन्त्र नहीं होगा, वरन् भावात्मक रूप से सन्तुष्टि व आनन्द का भी अनुभव करेगा। इसलिए शांति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यूनतम रूप है—प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा का अभाव और अधिकतम रूप है—पूर्ण शांति।

शांतिशोध का विचार

शांति के उपर्युक्त अर्थ के बाद शांति शोध को मात्र एक अध्ययन नहीं कहा जा सकता। शांतिशोध निश्चित ही एक अध्ययन से अधिक है। सुगतदास के अनुसार—"यदि एक समस्या पर किया जाने वाला अध्ययन उस तत्व की ओर इंगित करता है जो अशांति के लिए जिम्मेदार है तथा जो व्यक्त और अव्यक्त हिंसा से लड़ने के लिए कदम निर्धारित करने में सहयोग करे और सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विकास को आगे बढ़ाए, ऐसे कार्य को शांतिशोध कहा जा सकता है।"

पाश्चात्य विचारक गुनार मिरडल (Gunnar Myrdal) के अनुसार—"शांतिशोध समाजविज्ञानों के विभिन्न क्षेत्रों में एक व्यवस्थित अध्ययन है जो संघर्ष, तनाव और युद्धों के बारे में हमारी समझ और सोच में सुधार लाता है।"

उपर्युक्त दोनों अर्थों को देखें तो सुगतदास की परिभाषा पूर्ण मानी जाएगी क्योंकि वहां केवल अशांति के लिए जिम्मेदार तत्वों पर नियन्त्रण पाने की बात ही नहीं है बल्कि सामाजिक विकास के लिए कदम निर्धारित करने की बात भी शामिल है क्योंकि शांति युद्ध का अभाव मात्र नहीं है, शांति है समाज का समग्र विकास।

वर्तमान में शांतिशोध की अभिरुचि केवल शांति और युद्ध की समस्या तथा राजनैतिक संघर्षों तक ही सीमित है। शांति की नवीन परिभाषा के अनुसार युद्ध या हिंसा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सतत विद्यमान है। क्योंकि कुविकास (Mald evelopment), गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक निकट सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसलिए युद्ध विरोधी साधनों का विकास व खोज आवश्यक है। इन युद्ध विरोधी साधनों का उद्देश्य केवल युद्ध और हिंसा को समाप्त करना नहीं है अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज के सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना है। इसलिए शांतिशोध का आंदोलन वस्तुतः सम्पूर्ण व मूलभूत् परिवर्तन का आंदोलन है। अहिंसा, हिंसा की विरोधी मात्र नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन की सम्पूर्ण शक्ति है, अतएव शांतिशोध का विचार नए समाज-निर्माण के लिए है एवं शांतिशोध में शांति के इस नवीन संप्रत्यय को सम्मिलित करना होगा। जिससे समाज परिवर्तन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन व कलह-शमन भी संभव हो सके।

शांतिशोध का उपर्युक्त अर्थ व विचार इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शांतिशोध किसी विशेष अनुशासन या विषय (Discipline) से सम्बन्धित नहीं है, इसे किसी भी दिशा में विकसित किया जा सकता है जो दिशा शांतिशोधकर्ता के मन में हो। इसलिए अन्तरअनुशासित (Inter Disciplinary) है। कोई भी क्षेत्र पूर्ण नहीं है, अंश ही है। उदाहरणार्थ भारत की शांति समस्या को देखें—यह समस्या केवल राजनैतिक नहीं है, आर्थिक भी है, सामाजिक भी है, सांस्कृतिक भी है। किसी एक क्षेत्र के आधार पर हमारा अध्ययन गलत होगा। किसी भी समस्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखकर उसके निदान के प्रयत्न हों। गाल्टंग का कहना है कि शांतिशोध में हम विषय केन्द्रित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र (Disciplinary oriented field) को समस्या केन्द्रित क्षेत्र (problems oriented field) में बदलें जिससे समस्या की गहराई तक जाया जा सके और उसका निदान सम्भव हो सके। समस्या के निदान के लिए शांतिशोध में साधन-शुद्धि पर सदैव ध्यान रखा जाएगा।

"इसलिए शांतिशोध समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में योजनाबद्ध प्रयत्नों के द्वारा अहिंसक तरीके से सामाजिक परिवर्तन लाने के लक्ष्य का अनुसरण करता है।"

गाल्टुंग ने अपने एक निबन्ध "A critical Definition of peace" में कहा है—"शांतिशोध उन शर्तों की दिशा में समझने का प्रयास है जो हमें अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्सामूहिक हिंसा को रोकने में योगदान करता है तथा राष्ट्रों और जनता के बीच सामंजस्यपूर्ण तथा रचनात्मक सम्बन्धों के विकास में सहायक होता है।"

अतः गाल्टुंग से अनुसार शांतिशोध का व्यापक रूप से दो वर्गों में विभाजन है—

१. संघर्ष-शोध

२. शांति के लिए पहल।

उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों से सम्बन्धित शोध शांतिशोध है।

शांतिशोध के उद्देश्य

शांतिशोध के उपर्युक्त विभाजन इसके उद्देश्यों को भी स्पष्ट करते हैं अर्थात् संघर्ष-शोध व शांति के लिए पहल इसका प्रमुख उद्देश्य हो सकता है। मुख्य रूप से यह कहा जा सकता है कि समाज में अशांति की जो स्थितियां है, संघर्ष या तनाव की जो स्थितियां है, उनके कारणों का पता लगाना तथा उनके निराकरण के उपाय सुझाना—यह शांतिशोध का प्रमुख उद्देश्य होगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होगा—समाज का समग्र विकास करना क्योंकि सामाजिक असमानताएं हिंसा का कारण बनती हैं इसलिए सबका समग्र विकास इसका एक और मुख्य उद्देश्य हो सकता है। इनके अतिरिक्त निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत शांति-शोध के उद्देश्यों को खोज सकते हैं —

शांतिशोध का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है—अहिंसक व गरीबी-मुक्त समाज की रचना। यद्यपि कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो केवल हिंसा या केवल अहिंसा पर चल सके। जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा आवश्यक है पर समाज-रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। एक दूसरे के हित में बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ़ स्तम्भ है। पर आज के समाज में जो उच्च-निम्न के भेद है, जो संघर्ष है उन्हें मिटाना आवश्यक है। इसलिए शांतिशोध का उद्देश्य है कि एक ऐसे समाज की रचना करें जिसमें हिंसा का वर्चस्व न हो तथा सबका समान विकास हो सके।

शस्त्रास्त्रों के भयावह खतरे के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ जारी है। पारस्परिक अविश्वास व शक्ति संतुलन का सिद्धांत इस समस्या को और अधिक गहरा बनाए हुए है। शांति स्थापना के लिए, आर्थिक कल्याण व पुनर्निर्माण के लिए, समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान के लिए तथा आणविक संकट व पर्यावरण प्रदूषण से बचने के लिए निःशस्त्रीकरण की अपेक्षा है। शांतिशोध का उद्देश्य है कि शस्त्रीकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से होने वाले संघर्षों का पता लगाकर उनके समाधान के रूप में निशस्त्रीकरण को प्रस्तुत करना क्योंकि विश्वशांति का एक मार्ग यह भी है।

विश्व में कुविकास की समस्या बड़ी जटिल है। एक ओर तो विकसित राष्ट्र हैं, जहां भौतिक समृद्धि है, शक्ति है फिर भी वहां अशांति है। दूसरी तरफ अविकसित और पिछड़े हुए राष्ट्र हैं, जहां गरीबी अशांति का कारण बनी हुई है। अर्थात् असंतुलित विकास विश्व शांति के लिए खतरा बन गया है। शांतिशोध का उद्देश्य है कि इस कुविकास या असन्तुलित विकास के कारणों का पता लगाए तथा इसको रोककर समुचित व सन्तुलित विकास का मार्ग प्रशस्त करें।

विश्व के राष्ट्रों की परस्पर अन्तर्निर्भरता इतनी अधिक बढ़ गई है कि पारस्परिक सहयोग के बिना कार्य नहीं चल सकता और पारस्परिक सहयोग की कमी के कारण अनेक संघर्ष भी होते हैं। आज आवश्यकता है कि पारस्परिक सहयोग के क्षेत्र को बढ़ाएं और प्रतिस्पर्धा व अविश्वास की भावना को छोड़ें। ये शस्त्रीकरण व अशांति के स्रोत हैं जबकि पारस्परिक सहयोग विश्वशांति का आधार। शांतिशोध का उद्देश्य है पारस्परिक सहयोग के क्षेत्रों की खोज करें व पारस्परिक सहयोग को बढ़ाएं।

उपनिवेशवाद की समाप्ति के पश्चात् नव्य-उपनिवेशवादी नीतियां सामने आ रही हैं। शक्तिशाली राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास में इसलिए रुचि लेते हैं ताकि उनकी अर्थ-व्यवस्था पर वे नियन्त्रण स्थापित कर उस राष्ट्र को अपने इशारों पर चला सकें। शांतिशोध का यह उद्देश्य है कि उपनिवेशवाद के इस नवीन संस्करण के रूपों व कारणों का पता लगाकर निदान का मार्ग प्रशस्त करे।

समाज की संरचना में व्याप्त दोष हिंसा का एक मूलभूत् कारण है। शांतिशोध का तो यह प्रथम उद्देश्य है कि वह समाज-व्यवस्था और समाज की जड़ों में हिंसा के जो बीज छुपे हैं, उनका पता लगाकर संरचनात्मक हिंसा पर काबू पाए।

इस प्रकार शांतिशोध के उपर्युक्त अनेक उद्देश्यों के अतिरिक्त मानवीय एकता, पर्यावरण, धार्मिक सहिष्णुता, आतंकवाद, नशीले पदार्थों की तस्करी आदि अनेक ऐसी ज्वलन्त समस्याएं जिनके कारण व उन समस्याओं के निदान का रास्ता सुझाना शांतिशोध का उद्देश्य होता है।

शांतिशोध की आवश्यकता

निम्नांकित विषयों के अध्ययन के लिए शांतिशोध की आवश्यकता है।

विश्व के बड़े धर्मों का शांति के प्रति क्या दृष्टिकोण है? यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि विश्वशांति का मार्ग विभिन्न धर्मों की शांति के प्रति दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ है। विश्व में अनेक ऐसे युद्ध हुए हैं जो धार्मिक आधारों पर लड़े गए हैं। इराक-ईरान की इतने वर्षों तक चली लड़ाई इसका सशक्त प्रमाण है और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं—जैसे अफगानिस्तान की अशांति, बंगलादेश व पाकिस्तान की अशांति आदि-आदि। प्रारम्भ से धर्म और राजनीति के बीच संघर्ष चलता रहा है। अतः आज इस बात की अपेक्षा है कि विभिन्न धर्मों के शांति के प्रति दृष्टिकोणों का पता लगाएं तथा शांति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का एक सर्व-सम्मत आधार प्रस्तुत करें। इस हेतु शांतिशोध की अपेक्षा है।

समसामयिक समाज में समाज परिवर्तन की क्या आवश्यकता है ? चीन, रूस, फ्रांस आदि राष्ट्रों में समाज परिवर्तन का इतिहास खूनी क्रांतियों का इतिहास है। समाज परिवर्तन के लिए इतना खून बहाया जाने के बावजूद भी वांछित परिवर्तन नहीं आ सके हैं। इसलिए हमें समस्या को दूसरे दृष्टिकोण से सोचना होगा। यदि हिंसा समस्या का समाधान नहीं हो सकता तो अहिंसक साधनों से समाज परिवर्तन की बात सोचनी होगी। इस दिशा में गांधी, विनोबा, जयप्रकाश नारायण व आचार्य तुलसी के प्रयास महत्त्वपूर्ण है। अहिंसक साधनों से समाज परिवर्तन के लिए जिन साधनों को काम में लिया जाता रहा है उनमें सत्याग्रह, स्वदेशी, अहिंसा-प्रशिक्षण, हृदय परिवर्तन आदि है। शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए है, वह यह पता लगाए कि सम-सामयिक समाज-परिवर्तन की क्या आवश्यकता है ? कैसे समाज-परिवर्तन किया जा सकता है और उसके क्या-क्या साधन हो सकते हैं ?

शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए भी है कि वह यह पता लगाए कि विश्व-शांति की दृष्टि से शांति संगठनों की क्या भूमिका हो सकती है ? विश्व के अनेक राष्ट्रों में कुछ सरकारी व गैर सरकारी (NGO's) संस्थान हैं जो शांति के कार्यक्रमों में संलग्न है। पर उन संगठनों के बीच न तो कोई तालमेल है और न कोई संचार। शांतिशोध इस दिशा में प्रयत्न करे कि किस तरह इन शांति संगठनों को एक विश्व-व्यापी नेटवर्क से जोड़ा जा सकता है और कैसे इनमें समन्वय स्थापित कर विश्वशांति के प्रयासों को गति दी जा सकती है ?

शांतिशोध की आवश्यकता शांतिशिक्षण की समस्याओं और चुनौतियों के कारणों की खोज और निदान का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भी है। गाल्टुंग का विचार रहा है कि शांति, शक्ति के समान बंटवारे व संसाधनों के समान बंटवारे के बिना कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती" यही विचार शांति शिक्षण का आधार बना है। क्योंकि शक्ति व संसाधनों का असमान बंटवारा विश्व में अशांति का कारण बनता है। फोयरस्टीर का मत है कि शांति संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही आ सकती है। व्यक्ति संस्कृति का एक तत्व है, इसलिए वह इसके एक अंश के रूप में रहेगा पर समूह में भाईचारे या मानवता की भावना होगी। यह मानवता उत्पादक और सम्पूर्ण शिक्षा से ही आएगी जो स्वयं शांतिपूर्ण होगी। इस प्रकार शांति शिक्षण के कई आधार हो सकते हैं।

दूसरी तरफ युद्ध के लिए जैसा व्यवस्थित प्रशिक्षण है वैसा व्यवस्थित प्रशिक्षण शांति के लिए नहीं है, इसलिए भी शांति शिक्षण के लिए कई समस्याएं और चुनौतियां हैं। शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए है कि वह इन समस्याओ और चुनौतियों का पता लगाए।

उपर्युक्त समस्याओं के अलावा कुछ और महत्त्वपूर्ण समस्याएं हैं जिनके लिए शांतिशोध की आवश्यकता है। जैसे—

१. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए।

२. राजनैतिक संगठनों में विशेष रूप से चुनाव के समय और नक्सलवादियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धों के बीच हिंसा की रोकथाम के लिए।

३. आर्थिक ढांचे में विशेषकर जमींदार और कृषक तथा पूंजीपति व श्रमिक के सम्बन्धों के लिए।

४. संस्कृति के क्षेत्र में जिसमें भाषा, अर्थ, शिक्षा आदि के कारण संघर्ष हो रहे हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के अध्ययन व उन समस्याओं के निराकरण के प्रयत्न शांति-शोध के ही विषय हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष व शस्त्र के स्थान पर सहयोग व शांति को बढ़ावा दे सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. Sugat Das—Problems in Peace Research, Gujrat Vidyapeeth, Ahmadabad.
2. Johan Gultung—The way is the Goal, Gujrat Vidyapeeth. Ahmedabad, 1992
3. Mahendra Kumar—Violence & Non-violence in International Relations, Thomson Press Ltd. India, 1975
4. Mahendra Kumar—Current Peace Research and India, Thomson Press Ltd. India
5. K. Shridharani—War without violence, Newyork
6. D. N. Pathak (Ed)—Perespective of Peace Research, Gujrat Vidyapeeth, Ahmedabad
7. Encyclopedia of World Peace, Newyork.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेक्षा-ध्यान की वैज्ञानिकता*

समणी स्थितप्रज्ञा

भारतीय संस्कृति अध्यात्म से अनुप्राणित रही है। हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने अपनी साधना का सिंचन देकर इसे पल्लवित और पुष्पित किया है। जैन-धर्म में चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने विशिष्ट साधना एवं ध्यान के द्वारा ही केवलज्ञान प्राप्त किया था। अर्हत् दगभाली ने लिखा है—

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ।।

अर्थात् मनुष्य का सिर काट देने पर उसकी मृत्यु हो जाती है, वैसे ही ध्यान को छोड़ देने पर धर्म चेतनाशून्य हो जाता है। जैसे मनुष्य की चेतना का केंद्र मस्तिष्क है, वैसे ही धर्म की चेतना का केंद्र ध्यान है।[1] भगवान् महावीर के समय में हजारों-हजारों मुनि एकांतवास में, पहाड़ों में, गुफाओं में, शून्यगृहों में, उद्यानों में ध्यानलीन रहते थे। उनके बाद भी दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यह स्थिति चलती रही। उसके उत्तरार्द्ध में कुछ परिवर्तन आया। उस परिवर्तन के ये कुछ कारण बने।

१. प्राकृतिक प्रकोप।
२. राजनैतिक उथल-पुथल।
३. संघ सुरक्षा व लोक-संग्रह का आकर्षण।

वीर निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद एक द्वादशवर्षीय अकाल पड़ा।[2] उस समय हजारों मुनि जो श्रुत के पारगामी थे, अनशन कर दिवंगत हो गये।[3] इन कारणों का दीर्घकालीन परिणाम यह हुआ कि जैन संघ, जो ध्यान-प्रधान था वह स्वाध्याय प्रधान हो गया। जो अध्यात्मवादी था वह संघ प्रधान हो गया[4] और धीरे-धीरे ध्यान की परम्परा विलुप्त हो गयी।

प्रेक्षा-ध्यान क्यों

अणुव्रत अनुशास्ता गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी के मन में वि० सं० २०१२ में यह प्रश्न उभरा कि जैन-साधकों की ध्यान पद्धति क्या है ?[5] गुरुदेव के मन में साधना विषयक नये उन्मेष लाने की बात आयी। 'कुशल साधना' इस नाम से कुछ अभ्यास-सूत्र निर्धारित किये गये और साधु-साध्वियों ने उनका अभ्यास शुरू किया। साधना के क्षेत्र में यह प्रथम रश्मि थी। उससे बहुत नहीं, फिर भी कुछ आलोक अवश्य मिला। उसके पश्चात् अनेक छोटे-छोटे प्रयत्न चलते रहे।[6] गुरुदेव ने अपने शिष्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ को इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने आगमों में बिखरे हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर के ध्यान सूत्रों को एकत्रित किया और उन्हें प्रयोगों के द्वारा अपनी अनुभूति के आधार पर वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। वि० सं० २०३२ के जयपुर-चातुर्मास में परम्परागत जैनध्यान का अभ्यास-क्रम निश्चित करने का संकल्प हुआ।[9]

जैन-साहित्य में प्रेक्षा और विपश्यना—ये दोनों शब्द प्रयुक्त हैं। प्रेक्षा-ध्यान और विपश्यना—ये दोनों शब्द इस ध्यान पद्धति के लिए प्रयुक्त किए जा सकते थे, किन्तु विपश्यना ध्यान इस नाम से बौद्धों की ध्यान पद्धति प्रचलित है। इसलिए 'प्रेक्षा-ध्यान' इस नाम का चुनाव किया गया। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—"संपिक्खए अप्पगमप्पएणं" आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो; स्थूल मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। देखना ध्यान का मूल तत्त्व है। इसीलिए इस ध्यान-पद्धति का नाम "प्रेक्षाध्यान" रखा गया।[9]

प्रेक्षा-ध्यान का स्वरूप

प्रेक्षा-ध्यान का स्वरूप है—अप्रमाद, चैतन्य का जागरण या सतत जागरूकता। जो जागृत होता है, वही अप्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होता है, वही एकाग्र होता है। एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति ही ध्यान कर सकता है।[9] प्रेक्षा-ध्यान अप्रमाद की साधना है जिसके मुख्यतः बारह अंग हैं :—

१. कायोत्सर्ग
२. अन्तर्यात्रा
३. श्वास-प्रेक्षा
४. शरीर-प्रेक्षा
५. चैतन्य केंद्र-प्रेक्षा
६. लेश्या-ध्यान
७. वर्तमान क्षण-प्रेक्षा
८. विचार-प्रेक्षा और समता
९. संयम
१०. भावना
११. अनुप्रेक्षा
१२. एकाग्रता[10]

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग सभी प्रकार के ध्यान की अनिवार्य पूर्व भूमिका है। ध्यान में शरीर को पूर्णतः शांत और स्थिर रखना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जबकि शिथिलीकरण के द्वारा शरीर को तनावों से मुक्त कर दिया जाए।[11]

मानसिक तनाव, स्नायविक तनाव, भावनात्मक तनाव—इनको मिटाना, तनाव की ग्रन्थियों को खोल देना, यह है कायोत्सर्ग।[12]

शिथिलीकरण के बाद कायोत्सर्ग की मुद्रा में लेटे रहें। एक संकल्प के साथ पूरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर से श्वास लेना प्रारम्भ करें। प्राण-ग्रहण के साथ यह अनुभव करें कि पूरा शरीर, शरीर का कण-कण और शरीर का हर सेल श्वास ले रहा है। पूरे शरीर की *संवेदनशीलता जाग जाएगी और पूरा शरीर प्राण-शक्ति से ओत-प्रोत हो जाएगा। यह* प्राणशक्ति के विकास का प्रयोग है।[13]

प्रेक्षा-ध्यान में श्वास-प्रेक्षा के तीन प्रकार बताए गए हैं—१. दीर्घश्वास-प्रेक्षा, २. समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा, सहज श्वास-प्रेक्षा।

दीर्घश्वासप्रेक्षा

दीर्घश्वास की सम्यक् प्रक्रिया को समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि से उसकी समुचित विधि को जानना अपेक्षित है। शरीर-विज्ञान के अन्तर्गत श्वसन-तंत्र के विषय में जो विस्तृत जानकारी उपलब्ध है उसके अनुसार हमारे फेफड़ों में हवा भरने की क्षमता लगभग ६ लीटर है। किन्तु आमतौर इस क्षमता का पूरा उपयोग बहुत कम लोग करते है। अधिकांश लोग केवल आधा लीटर वायु का विनिमय श्वासोच्छवास के दौरान कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि सामान्यतया व्यक्ति केवल पंसली की मांसपेशियों या हंसली का ही उपयोग करते हैं, डायोफ्राम का नहीं। डायोफ्राम को गतिशील बनाने से चार या पांच लीटर तक वायु का विनिमय सम्भव हो सकता है। जब हम पंसलियों के बीच की मांसपेशियों तथा हंसली के साथ डायोफ्राम का भी उपयोग करना सीख लेते हैं, तब फेफड़ों की क्षमता का पूरा उपयोग करने में हम सक्षम बन जाते हैं।[14] इसलिए प्रेक्षा-ध्यान में दीर्घश्वास-प्रेक्षा का विशेष महत्त्व है।

दीर्घश्वास-प्रेक्षा के लाभ

चित्त को श्वास पर एकाग्र करने का फलितार्थ होता है—शरीर और स्वयं—दोनों के पृथक्त्व का बोध।[15] प्राण-ऊर्जा जागृत होती है। प्रज्ञा जागृत होती है। संकल्पशक्ति जागती है।[16] श्वास प्रेक्षा मानसिक एकाग्रता का बहुत महत्त्वपूर्ण आलम्बन है। दीर्घ-श्वास से रक्त को बल मिलता है, शक्ति-केंद्र जागृत होते हैं, तैजस् शक्ति जागृत होती है, सुषुम्ना और नाड़ी संस्थान प्रभावित होता है। इससे भावनाओं पर नियंत्रण करने में सहायता मिलती है।[17]

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा

आज असन्तुलन की स्थिति बढ़ती जा रही है, जिसका वैज्ञानिक दृष्टि से मूल कारण है 'सिम्पेथेटिक' और 'पेरासिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम' में असन्तुलन का होना। जब 'सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम' अधिक सक्रिय हो जाता है तो व्यक्ति उद्दण्ड, उच्छृंखल और अनुशासनहीन बन जाता है, उसका प्रभाव उसके शरीर एवं मन पर भी पड़ता है; 'ब्लडप्रेसर हाई' हो जाते हैं, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, श्वास की रफ्तार तेज हो जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं और होठ फड़कने लगते हैं। यदि 'पेरासिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम' अधिक सक्रिय होता है तो व्यक्ति निराश हो जाता है। कुण्ठा के कारण उसके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता।

समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा के द्वारा 'सिम्पेथेटिक' और 'पेरासिम्पेथेटिक नर्वस् सिस्टम'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा की विधि इस प्रकार है—बांएं नथुने से श्वास लें, दांएं से निकालें। फिर दांयें से लें और बांयें से निकालें। चित्त और श्वास साथ-साथ चले। श्वास भीतर, चित्त भीतर, श्वास बाहर, चित्त बाहर।[१८]

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा के लाभ

समवृत्ति श्वास से नाड़ी-संस्थान का शोधन होता है, ज्ञान-शक्ति विकसित होती है और अतीन्द्रिय ज्ञान की संभावनाओं का द्वार खुलता है।[१९]

चैतन्य-केंद्र-प्रेक्षा

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियां हैं—वाहिनी युक्त और वाहिनी रहित। ये वाहिनी रहित ग्रंथियां अन्तःस्रावी होती हैं। इन्हें 'एण्डोक्राइन-ग्लैण्ड्स, कहा जाता है। पीनियल, पिच्यूटरी, थायराइड, पेराथायराइड, थाइमस, एड्रीनल, गोनाड्स और स्प्लीन — ये सभी अन्तःस्रावी ग्रन्थियां हैं। इनके स्राव 'हार्मोन' कहलाते हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक प्रवृत्तियों का संचालन इन ग्रन्थियों के द्वारा उत्पन्न स्रावों के माध्यम से होता है। हमारी सभी चैतन्य क्रियाओं का संचालन इस ग्रंथि-तंत्र के द्वारा होता है। अतः उन ग्रन्थियों को चैतन्य-केंद्र की संज्ञा दी गयी है।[२०]

चैतन्य केन्द्रों के प्रकार एवं स्थान

नाम	स्थान
१. शक्तिकेंद्र	पृष्ठ रज्जु के नीचे का छोर
२. स्वास्थ्यकेंद्र	पेडू का स्थान
३. तेजस्-केंद्र	नाभि
४. आनंद-केंद्र	हृदय के पास जहां गड्ढा पड़ता है।
५. विशुद्धि-केंद्र	कंठ के मध्य भाग में
६. ब्रह्मकेंद्र	जिह्वाग्र
७. प्राणकेंद्र	नासाग्र
८. चाक्षुष-केंद्र	आंखों के भीतर
९. अप्रमाद-केंद्र	कानों के भीतर
१०. दर्शन-केंद्र	भृकुटियों के मध्य में
११. ज्योति-केंद्र	ललाट का मध्य भाग
१२. शांति-केंद्र	मस्तिष्क का अग्रभाग
१३. ज्ञान-केंद्र	सिर के ऊपर का भाग।[११]

चैतन्यकेन्द्र-प्रेक्षा निष्पत्ति

मानसिक संतुलन।[२२] आदतों का परिवर्तन।[२३] अन्तःकरण का परिवर्तन।[२४] अवधिज्ञान की प्राप्ति।[२५] चैतन्यकेंद्रों का निर्मलीकरण।[२६] आनंद-केंद्र का जागरण।[२७] शक्ति का जागरण।[२८] संक्षेप में प्रेक्षा-ध्यान समाधि तक पहुंचने की प्रक्रिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि तक पहुंचने के लिए व्याधि, आधि और उपाधि को देखना, समझना और उन पर नियंत्रण करना होता है। प्रेक्षा-ध्यान यह सब करने के लिए व्यक्ति को सन्नद्ध करता है।[९९]

इस प्रकार वर्षों से विलुप्त जैन-ध्यान पद्धति को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय अणुव्रत अनुशास्ता गुरुदेव श्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ को है, जिन्होंने उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाकर अपने अनुभवों के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित ध्यान-पद्धति का श्रीगणेश किया, जो प्रेक्षा-ध्यान के नाम से पूरे विश्व में प्रतिष्ठित हो चुका है।

'प्रेक्षा-ध्यान' जैन ध्यान पद्धति होते हुए भी सम्प्रदायातीत, सार्वजनीन ध्यान पद्धति है। जैन-अजैन आदि लाखों लोगों ने प्रेक्षा-ध्यान शिविरों में भाग लेकर शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक बीमारियों से मुक्ति का अनुभव किया है वहां कुछ लोगों ने अध्यात्म के उत्कर्ष भेद-विज्ञान—आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है का भी साक्षात्कार किया है। अस्तु, प्रेक्षा-ध्यान से बीमारियां ठीक हो सकती हैं, लेकिन इसका मूल ध्येय है चित्त की निर्मलता, वीतराग भाव को प्राप्त करना, सत्यं-शिवं-सुन्दरं का साक्षात्कार कर उसमें प्रतिष्ठित हो जाना।

संदर्भ :

* अखिल भारती प्राच्य विद्या सम्मेलन के ३७ वें रोहतक, हरियाणा अधिवेशन के 'प्राकृत जैन विद्या विभाग' में पठित

१. महावीर की साधना का रहस्य, पृ० २६९
२. वही, पृ० २७९
३. वही, पृ० २७९
४. वही, पृ० २८०
५. प्रेक्षा-ध्यान : आधार और स्वरूप, पृ० ९
६. वही, पृ० १०
७. वही, पृ० ११
८. मनोनुशासनम्/परि० २/पृ० १८७-८८
९. प्रेक्षा-ध्यान : आधार और स्वरूप, पृ० १६
१०. वही, पृ० १८
११. प्रेक्षा-ध्यान : कायोत्सर्ग/भूमिका, पृ० ९
१२. वही, वही, पृ० ९
१३. जीवन विज्ञान : शिक्षा का नया आयाम, पृ० ७३
१४. प्रेक्षा-ध्यान : श्वास प्रेक्षा, पृ० १८-१९
१५. संबोधि, पृ० ४२०
१६. किसने कहा मन चंचल है, पृ० ८३
१७. जैनयोग, पृ० १०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. प्रेक्षा-ध्यान : प्रयोग पद्धति, पृ० १७
१९. जैनयोग, पृ० १०४
२०. प्रेक्षा-ध्यान : आधार और स्वरूप, पृ० २८
२१. प्रेक्षा-ध्यान : चैतन्य-केंद्र प्रेक्षा, पृ० ३१
२२. वही, पृ० ४५
२३. वही, पृ० ४६
२४. वही, पृ० ४६
२५. वही, पृ० ४८
२६. वही, पृ० ४९
२७. वही, पृ० ५०
२८. वही, पृ० ५१
२९. अप्पाणं सरणं गच्छामि, पृ. ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तुति के तत्त्व

साध्वी संचितयशा

जैन वाङ्मय में स्तुति की एक सुन्दर परम्परा रही है। जैन आचार्यों ने अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में जिनेश्वर देवों की स्तुति की है। स्तुति का अर्थ है—गुणों का कथन करना, गुणों की प्रशंसा करना, गुणों का कीर्तन करना। जिसका प्राकृत रूप है—'थव थुई।' स्तुति करते समय भक्त जिनेश्वर देव से कभी आत्मानुभूति की याचना करता है तो कभी शाश्वत सुख की प्रार्थना और कभी परमात्मा या तत्सदृश बनने की विनती। उत्तराध्ययन में स्तुति को मंगल माना है, जिससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र बृद्धिगत होते हैं।[1]

भक्ति और स्तुति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भक्ति कोई बाह्य अभिधान नहीं बल्कि भक्त-हृदय रूप मानसरोवर से समुद्भूत अनवच्छिन्न भावधारा का नाम है, जिसका परम लक्ष्य प्रभुपद या जिनेश्वर चरण से शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करना है। भक्त भगवान् की आराधना, गुणकथन एवं प्रभुपाद चिन्तन में तल्लीन हो जाता है, तब उसके मुख से अपने आप ही स्तुति या स्तोत्रों की रचना होने लगती है, सम्पूर्ण समर्पण एवं अखण्ड निष्ठा का अवतरण होता है। उस अवस्था में भक्त का हृदय विगलित हो जाता है और उसके पास अपनी तुच्छता तथा प्रभु की महानता एवं दयालुता के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता। अपनी ह्रस्वता का ज्ञान एवं प्रभु में अखण्डात्मिका शक्ति ही स्तुति-काव्यधारा को प्रवाहित करने में समर्थ हो जाती हैं। मानतुङ्ग के शब्द प्रमाण हैं—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्।[2]

भक्ति की उर्वराभूमि में ही स्तुति काव्य के बीज प्रस्फुटित होते हैं, या कह सकते है कि भक्ति स्तुति की जनयित्री शक्ति है, तो स्तुति से भक्ति की पुष्टि भी होती है।

जैन साहित्य की प्रमुख निधि है—आगम। आगम-साहित्य में अनेक स्तव या स्तुतियां संग्रथित हैं। सूत्रकृतांग के पांचवे अध्ययन में महावीरत्थुई अनुस्यूत है जिसमें परिकर अलंकार के माध्यम से भगवान् महावीर के कमनीय एवं रमणीय स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आवश्यक सूत्र के दूसरे अध्ययन का नाम है—'चउवीसत्थव" जिसमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। आचार्य भद्रबाहु ने 'उवसग्ग हर स्तोत्र' की रचना की। जिसका जैन परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस स्तोत्र का वाचन करने से व्यक्ति संघर्षों को पार कर जाता है। उसके रोग उपद्रव मिट जाते हैं।

आचार्य सिद्धसेन ने 'कल्याण-मंदिर', आचार्य मानतुंग ने 'भक्तामर-स्तोत्र की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचना की। अनेकों आचार्यों ने जिनेश्वर की स्तुति की है। तेरापन्थ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने राजस्थानी भाषा में रचित चौबीसी में चौबीस गीतिकाओं के द्वारा तीर्थङ्करों की स्तवना की है तो वर्तमान में गुरुदेव तुलसी ने भी 'चतुर्विंशति गुणगेय-गीति' स्तव में २४ तीर्थङ्करों, गणधरों, आचार्यों की स्तुति की है। इन स्तुति काव्यों में भक्त की उस महनीय दशा का उल्लेख मिलता है जिसमें कैसे वह सीमा में ही असीम को पकड़ लेता है, और किस प्रकार अजर-अमर प्रभु से अपना अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित करके उनके तद्रूप बन जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में स्तोत्रों के आधार पर स्तुति के तत्त्व, स्तुति का लक्ष्य आदि विषयों पर विवेचन करने का विनम्र प्रयास किया जा रहा है।

१. अहंकार विलय

भक्त भगवान् की स्तुति तभी कर सकता है जब उसके अहंकार का विलय हो जाता है। अहं के वशीभूत होकर व्यक्ति कभी स्तुति नहीं कर सकता। अहं के विलय से ही भक्त के तन में भगवान् के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा प्रगाढ़ होने पर भगवत् आराधना होती है। आचार्य मानतुंग स्तोत की रचना करते समय प्रारम्भ में ही लिखते हैं—

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित पादपीठ.....।

इस पंक्ति में आचार्य का अहंकार-विलय उद्घाटित होता है। आचार्य सिद्धसेन ने भी जिनेश्वर की स्तुति में कहा है—"हे नाथ! मैं जड़बुद्धि होता हुआ भी तुम्हारे असंख्य गुणों वाले आकार की स्तवना करने के लिए उद्यत हुआ हूं—

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ! जड़ाशयोऽपि,
कर्तुं स्तवं लसदसंख्य गुणाकरस्य।[५]

जयाचार्य ने चौबीसी की रचना करते समय अहंकार विलय का रूप दिखाया है तभी तो उनकी हर गीतिका में "हूं तुझ शरणे आवियो"—इस प्रकार के उद्गार उद्घाटित होते हैं।

२. आत्माभिव्यंजना

भक्त जब श्रद्धा से अभिभूत हो जाता है तब वह लज्जा, संकोच का परित्याग करके अपने दोषों और गुणों को यथार्थ रूप से प्रकट कर देता है। उस समय उसका मन निश्छल हो जाता है, और प्रभु दर्शन के लिए उत्कंठित हो जाता है। उस समय उसे अपनी शक्ति का भी भान नहीं रहता है। आचार्य मानतुंग की भी ऐसी ही दशा होती है। जब वे जिनेश्वर की स्तुति करते हैं उस समय उन्हें अपनी बुद्धि का भी ध्यान नहीं रहता है—

.....स्तोतुं समुद्यत्मतिर् विगत-त्रपोऽहम्
बालं विहाय जल संस्थितमिन्दुबिम्ब.....।[६]

सिद्धसेन दिवाकर की भी ऐसी ही स्थिति है, वे कहते हैं—हे अधीश! क्या मेरे जैसा सामान्य मनुष्य तुम्हारे गुणों का वर्णन कर सकता है। कदापि नहीं, फिर भी वह धृष्टता के साथ प्रयत्न कर रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. आत्म-समर्पण

जब भक्त के मन में आत्माभिव्यंजना की भावना जाग्रत हो जाती है तब वह अपने आप प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है—

तन्मे त्वदेक-शरणस्य शरण्य ! भूया,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवांतरेऽपि ।।[७]

हे प्रभु ! यदि तुम्हारे चरण-सरोजों की सतत संचित भक्ति का कोई फल है तो हे शरण्य ! मैं आपकी शरण में हूं। आप मेरे जन्म-जन्म के स्वामी बनें। उस समय भक्त विह्वल हो जाता है। वह प्रभु के चरणों में लौटने लगता है और मन से भगवत् भक्ति में लीन हो जाता है।

४. भगवद् गुणकीर्तन

भक्त भगवान् की भक्ति में लीन होकर उनके गुणों का कीर्तन करने लग जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने 'उवसग्ग हर स्तोत्र' में पार्श्व को सर्वप्रथम वंदन किया है—

उवसग्ग हरं पासं, पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं ।
विसहर-विसनिन्नासं, मंगल-कल्लाण-आवासं ।।[८]

आचार्य मानतुंग ने कैदखाने में भक्तामर स्तोत्र की रचना कर सृष्टि के प्रवर्त्तक आदिनाथ (ऋषभ देव) की स्तुति की। स्तोत्र के प्रथम श्लोक में ही उन्होंने प्रभु आदिनाथ के गुणों का कीर्तन किया है—

भक्तामरप्रणतमौलिमणि-प्रभाणा
मुद्योतकं दलित-पाप-तमोवितानम्
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ।।
यः संस्तुतः सकल-वाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर् जगत्त्रितत्रचित्त-हरै रूदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ।।[९]

सिद्धसेन ने कल्याणमन्दिर में तीर्थंङ्कर की स्तवना की है—

कल्याण-मन्दिर-मुदारमवद्य-भेदि,
भीताभय-प्रदमनिन्दित-मङ्घ्रि-पद्मम् ।
संसार-सागर-निमज्जदशेष-जन्तु,
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ।।[१०]

तेरापन्थ के चतुर्थ आचार्य श्रीमद्जयाचार्य व गुरुदेव तुलसी ने भी अपने स्तोत्रों में प्रभु का गुणकीर्तन किया है।

५. नाम-जप

प्रभु के भक्ति का एक रूप और है—जप। निरन्तर जप से कर्मों के बन्धन शिथिल हो जाते हैं और वे टूट जाते हैं। आचार्य मानतुंग जिनेश्वर देव की स्तुति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार लीन हो जाते हैं उनकी बेड़ियां स्वतः ही टूट जाती है—

आपाद-कण्ठमुरु-शृंखल वेष्टितांगा,
गाढं वृहन्निगडकोटि निघृष्टजंघाः ।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्य स्वयं विगत-बन्धभया भवन्ति ।।[11]

जयाचार्य कृत चौबीसी में भी "विघ्न मिटै समरण किया"—ऐसा उल्लेख मिलता है। गुरुदेव तुलसी ने भी लिखा है—

अशुभानि प्रलयन्त्वखिलानि,
तत् स्मरणार्जित-सुकृत मरे।।[12]

अभिनन्दन, श्रेयांस, मल्लि आदि तीर्थङ्करों का स्तुति गान करते हुए जयाचार्य अपने आपको प्रभु की शरण में छोड़ देते हैं वे उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

- जाप तुमारो निश-दिन संभरू-शरणागत सुखकार।[13]
- जपत जाप खपत पाप तपत ही मिटायो·····।[14]
- नेम जाप्यां पायो सुखसार·····।[15]

६. प्रभु प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा

ऐसी स्तुति भक्त तभी कर सकता है जब उसके मन में भगवान् को पाने की जिज्ञासा जाग जाती है। परम व्याकुल होकर वह मिलन के लिए उत्कंठित हो जाता है। जयाचार्य कृत चौबीसी में अनेकों स्थलों पर ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जिनमें भक्त की विह्वलता प्रकट होती है—

- उबा दिशा किण दिन आवसी, मुझ मन उम्हाया।[16]
- उवाही दशा कद आवसी।[17]

७. दास्य भाव

भक्त और भगवान् में स्वामी-सेवक भाव का सम्बन्ध होता है। इन स्तोत्रों में केवल भगवान् के गुणों का ही कीर्तन नहीं किया गया है बल्कि स्वयं का दास्य भाव भी दिखलाया गया है। "हूं छूं तुम्हारो दास ए"[18]—इन भावों की पंक्तियां चौबीसी में कई स्थानों पर है।

८. शरण गति

सुख और दुःख का प्रवाह जीवन में निरन्तर चलता रहता है। कभी सुख आता है, कभी दुःख आता है। सुख का समय आनन्द प्रदान करता है उस समय भगवद् स्मरण का प्रसंग कम देखने को मिलता है लेकिन जब दु.ख आता है तब प्रभु की शरण ही उसके जीवन का आधार बनता है।

- अहो प्रभु शरण आयो तुझ साहिबा।[19]
- हूं तुझ शरणे आवियो कर्म विदारण तूं प्रभु वीर कै।[20]

प्रभु की शरण व्यक्ति के कष्टों को समाप्त कर देती है। जिसका वर्णन मानतुंग ने स्तोत्र में किया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अम्भोनिधौ क्षुभित-भीषण-नक्र-चक्र
.....त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ।[२१]

९. स्तुति अथवा भक्ति का लक्ष्य

जप भक्ति, स्मरण भक्ति, शरणागति भक्त को प्रभु से मिलाने की उत्कृष्ट प्रक्रिया है। उस समय व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है। वह सब कुछ प्रभु को अर्पित कर आनन्द की अनुभूति करता है। इन स्तोत्रों में भी एक ओर प्रभु का गुणगान किया है तो दूसरी ओर भक्त अपनी दीन दशा का उल्लेख करते हुए कहता है—प्रभु मेरे में तुम्हारी स्तुति करने की योग्यता नहीं है फिर भी मैं तुम्हारी स्तुति करने के लिए तत्पर हुआ हूं। क्योंकि—

"आस्तां तवस्तवनमस्तसमस्तदोषं, ...''[२२]

तुम्हारी स्तुति तो दूर तुम्हारी कथा करने से सभी पाप दूर हो जाते हैं। स्तुति या भक्ति से ज्ञान, दर्शन चारित्र में वृद्धि होती है। उत्तराध्ययन में स्तुति को मंगल माना है। स्तुति या भक्ति भी अध्यात्म योग की एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में भी भक्त भक्ति में तल्लीन होकर समस्त पापों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध मुक्त हो सकता है।

१०. भव परम्परा विच्छेद

जिनेश्वर की स्तुति भव परम्परा को विच्छिन्न करने का उत्तम साधन है। जब भक्त भगवान् की स्तुति करता है तो उसमें तन्मय हो जाता है। उस समय उसके समक्ष केवल भगवान् का ही रूप दिखाई देता है। वह संसार के स्वरूप को भूलकर उसमें तन्मय हो जाता है। तभी तो स्रोतों में उल्लिखित है—

- त्वत्संस्तवेन भवसंतति सन्निबद्धं, पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।[२३]
- त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति..... .....।[२४]
- नामाऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति.....।[२५]
- त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश ।
  गच्छन्ति नूनमघ एव हि बन्धनानि ।।[२६]

११. उपास्य के साथ तादात्म्य

भक्त प्रभु के चरणों में सब कुछ समर्पित कर निश्चित हो जाता है और उस समय प्रभु के साथ उसका अविच्छिन्न तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है। हनुमान राम के भक्त थे। वे अपने में और राम में कोई अन्तर नहीं मानते थे। उन्हें ऐसा लगता था कि राम हर क्षण हर पल मेरे पास है। आचार्य महाप्रज्ञ का समर्पण भी ऐसा ही है। मानतुंग आचार्य जब जिनेश्वर की स्तुति में तन्मय हो जाते हैं उस समय उन्हें जिनेश्वर में और अपने में कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। तभी उनके मुख से स्वतः ही वाणी प्रस्फुटित हो जाती है—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ,
भूतैर् गुणैर् भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ?[२७]

हे तीनों लोकों के नाथ ! तुम बुद्ध हो, शंकर हो, मुक्तिमार्ग के विधि-विधान के कर्त्ता हो, तुम उत्तम पुरुष हो, इसलिए मुझे भी इस रूप में निर्मित करो—यह उसकी प्रार्थना बन जाती है।

इसी प्रकार सिद्धसेन भी कहते हैं—

सानिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग !
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ।।[२८]

इस प्रकार विभिन्न स्तोत्रों के विवेचन से विभिन्न तत्त्वों का प्राकट्य होता है जो मानवीय जीवन के विकास एवं दुःख मुक्ति के लिए उपयोगी हैं। इन तत्त्वों के वैयक्तिक जीवन में समावेश कर लेने से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। इनकी शक्ति के सहारे वह वहां पहुंच जाता है जहां पर सत्यं शिवं सुन्दरम् का चिरन्तन अधिवास होता है।

संदर्भ

१. उत्तरज्झयणाणि, २९।१५
२. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ६
३. आवश्यक सूत्र, २
४. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ३
५. कल्याण मन्दिर, श्लोक ५
६. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ३
७. कल्याण मन्दिर, श्लोक ४२
८. उपसर्ग-हर-स्तोत्र, सूत्र १
९. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक १-२
१०. कल्याण मन्दिर, श्लोक १
११. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ४२
१२. चतुर्विंशति गुण गेय गीति, श्लोक ३६
१३. जयाचार्यकृत चौबीसी, ५।६
१४. वही, १९।६
१५. वही, २२।७
१६. वही १।६
१७. वही, १०।६
१८. वही, ७।६
१९. वही, २।६
२०. वही, ३।६
२१. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ४०
२२. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ९
२३. वही, श्लोक ७
२४. वही, श्लोक ९
२५. कल्याण मन्दिर, श्लोक ७
२६. वही, श्लोक, २०
२७. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक १०
२८. कल्याण मन्दिर, श्लोक २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य-सत्कार एवं पुस्तक-समीक्षा

डॉ० परमेश्वर सोलंकी

१. आचारांगभाष्यम्

(मूलपाठ, संस्कृत भाष्य, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण, सूत्र-भाष्यानुसारी विषय-विवरण, वर्गीकृत विषय-सूची तथा विविध परिशिष्टों से समलंकृत) —आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९९४, मूल्य- ३००/- रुपये।

तेरापन्थ धर्मसंघ ने सन् १९५४ से सन् १९८० तक निरन्तर अध्यवसाय करके आगम पाठ-संशोधन और सम्पादन का कार्य किया। अंगसुत्ताणि भाग-१, २, ३, ४ (खण्ड १ व २) और भाग ५ में बत्तीस आगमों का मूलपाठ प्रकाशित किया। आगमों का टिप्पण सहित हिन्दी अनुवाद का भी उपक्रम हुआ और दशवेआलिय, उत्तरज्झयणाणि, आयारो, सूयगडो, ठाणं और समवाओ का मुद्रण हो गया।

आगमों पर भाष्य-परम्परा में आवश्यक, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प, बृहत्कल्प, पंचकल्प, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर भाष्य उपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति और पिंडनिर्युक्ति पर भी भाष्य हैं किन्तु प्रथम आगम—**आचारांग** पर भाष्य नहीं है। उस पर निर्युक्ति, चूर्णि, टीका और टब्बा उपलब्ध हैं। निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु, चूर्णि—आचार्य जिनदास महत्तर, टीका—शीलांक सूरि की है और टब्बा—माणिक्य शेखर सूरि, जिनहंस सूरि, लक्ष्मी कल्लोल का। बालावबोध के रचयिता पार्श्वचन्द्र सूरि माने जाते हैं। तेरापन्थ के चौथे आचार्य, श्रीमज्जयाचार्य ने आचारांग के प्रथम स्कंध का राजस्थानी में पद्यानुवाद किया है और भी अनेकों अनुवाद और टीकाएं हो सकती हैं किन्तु भाष्य होने की कोई जानकारी नहीं है।

इस पर गुरुदेव ने **आचारांग** पर भाष्य-निर्माण का संकल्प किया और उनके शिष्य आचार्य महाप्रज्ञ ने सरल संस्कृत में भाष्य का प्रणयन कर दिया। इस भाष्य के साथ हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण, भाष्यानुसारी विषय-विवरण, वर्गीकृत विषय सूची और सूत्रानुक्रम, पद्यांश तथा पद्य एवं पदानुक्रम आदि का विस्तृत विवरण तैयार किया गया। भाष्य को विविध प्रकार से आधुनिक विद्वानों के लिए सुगम बनाने का भी प्रयास किया गया और इसी माह (दिसम्बर'९४) उसका प्रकाशन हो गया। संप्रति उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रगति पर है।

यह एक अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है। क्योंकि **आचारांग** भगवान् महावीर के प्रवचन का सार है। यह आगम, आचार का प्रतिपादक सूत्र है। इसमें मोक्ष का उपाय निर्दिष्ट है। इसके अध्ययन से समूचा श्रमण धर्म ज्ञात हो जाता है। बिना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके अध्ययन किए अन्यान्य आगमों का अध्ययन निषिद्ध माना जाता है।

आचारांग विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक धर्म का प्रतिपादक है। इसका प्रारम्भ आत्म-संज्ञान से होता है और सम्पूर्ति आत्म-साक्षात्कार से। इसमें आत्मार्पण की भावना है और सत्यानुसंधान के लिए श्रद्धा और स्वतन्त्र दृष्टि का समन्वय है। **आचारांग** कहता है—हिंसा का मूल है—पदार्थ के साथ 'यह मेरा है'—इस मनोवृत्ति का जुड़ाव। वस्तुतः पदार्थ किसी का नहीं है। यही सचाई है। इस सचाई को स्वीकार कर अपरिग्रह को अपनाने से सब समस्याएं स्वतः सुलझेंगी। भगवान् महावीर बढ़ती हुई आकांक्षा की मनोवृत्ति को रोकने का उपदेश देते हैं। **आचारांग** में इसके वाचक सूत्र भरे पड़े हैं।

आचारांग में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य सम्बन्धी पांचों आचारों का वर्णन है। इसमें आत्म-कर्तृत्व और भोक्तृत्व के संवाहक अनेकों सन्दर्भ हैं। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का पदे-पदे प्रतिपादित है। सर्वांश में यह मुनि जीवन का आधारभूत आगम है। निर्युक्तिकार ने स्वयं जिज्ञासा की—**'अंगाणं किं सारो ?'** और स्वयं ही उत्तर दिया—**'आयारो।'**—(गाथा-१६)।

ऐसे उत्कृष्ट और प्राचीनतम आगम पर भाष्य लिखकर आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने भाष्य—प्रणयन की उच्छिन्न धारा को पुनर्जीवित किया है। इस भाष्य से **आचारांग** के अनेकों प्रसंग सुस्पष्ट हुए हैं। बहुत से ऐसे सन्दर्भ उजागर हुए हैं जो पश्चात्कालीन चिन्तन में ज्यों के त्यों रहे हैं अथवा संक्षेप और विस्तार को प्राप्त हुए हैं। कतिपय उदाहरण देखिए—

(i) ५।१३५ 'ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा'—यह श्वेताश्वेतर उपनिषद् (५.१०) में ज्यों का त्यों है—"नैष स्त्री न पुमानैष, न चैवायं नपुंसकः।"

(ii) १।८ 'अपरिण्णाय कम्मे खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेति अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे य पडिसंवेदेइ'—यह सूत्र ईशावास्योपनिषद् (१.३) और कठोपनिषद् (२.३.४) में संक्षेप-विस्तार हुआ है—

"असूर्यानां ते लोका अन्धेन तपसाऽऽवृत्ता
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।"

× × ×

"इह चेदशकत् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रतः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥"

(iii) ३।१ 'सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति'—यह सूत्र गीता (२.६९) में विस्पष्ट हुआ है—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जागंति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iv) ३।५८ —

'आगतिंगतिपरिण्णाय, दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणे।
से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्जइ ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए ।।

इस सूत्र का अपरार्द्ध गीता (२.२३, २४) में व्याख्यायित हुआ है —

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।"

(v) ५।१२३ 'सव्वे सरा णियट्टंति'—यह सूत्र तैत्तरीय—उपनिषद (२.२), कठोपनिषद् (२.३.१२), केनोपनिषद् (१.३) और मुण्डकोपनिषद् (३.३.२) में दोहराया गया है—

"यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह"

× × ×

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो·····।"

× × ×

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः ·····।"

× × ×

'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा·····।"

इसी प्रकार सूत्र (२.१८२ व ३.५५) पातंजलयोग दर्शन (४.३० व १.४७) में, सूत्र-४.५१ योग वाशिष्ठ (६.१.८७, ८८) में, सूत्र-५.१३६ ब्रह्मसूत्र (२.३.१८ व ३.२.१६) में तथा सूत्र-५.११८ सुश्रुत संहिता (शरीर स्थान ५.१०) में पुनर्व्याख्यायित हुए हैं। समाधि-शतक (श्लोक ७३) में आचारांग का सूत्र-८.१४ नयांतर से निरूपित हुआ है। ऐसे ही अनेकों सन्दर्भ हैं।

ग्रन्थ के परिशिष्टों में विशिष्ट शब्दों के अर्थ और देशी शब्दों की पहचान दी गई है—**आराम**=आत्म रमण, **आस**=भोगाभिलाषा, **ओह**=प्रवाह, **संखडि**=जीमनवार, **अहोविहार**=संयम, **ओववाइय**=पुर्नजन्म लेने वाले, **पंत**=वासी भोजन, **बक्कस**=सत्तू या चने का भोजन, **लूहदेसिय**=रूक्ष भोजन, **समय**=सांकेतिक कथा, **साला**=भींत रहित आवास आदि विशेषार्थक शब्द और **गेहि**=कामासक्ति, **चाइ**=सहन करना, **चिट्ठं**=गाढ़ा, गहरा, **संघड**=नित्य, सतत, **हुरत्था**=अप्राप्त, बाह्य आदि देशी शब्दों का भावार्थ खोला गया है। धातुपद, संधान पद और सुभाषितों का संग्रह, टिप्पणियों में उल्लिखित विशेष विवरण और चूर्णि तथा वृत्ति में उद्धृत श्लोकों का भी संकलन कर दिया गया है।

सर्वांश में यह उपक्रम अनूठा बन पड़ा है। २३ × २९ से० मी० के बृहद् आकार में ६०० पृष्ठों का यह प्रकाशन ३००/- रुपये में प्राप्य है। गेटअप, छपाई, साज-सज्जा मनोहारी है।

इस प्रकार जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं का यह प्रकाशन उसकी **आगम-प्रकाशन माला** का सुमेरू बन गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. श्रीमद् भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन

—डॉ० हरिशंकर पांडेय; जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं; प्रथम संस्करण—१९९४; मूल्य-१५१/- रुपये।

प्रस्तुत ग्रंथ का अवलोकन जिन महानुभावों ने किया है उन्होंने लिखा है—'श्री पांडेय का श्रम अपने आप में सार्थक है।' 'समीक्षा के आवश्यक तत्त्व हैं—अध्ययन, चिन्तम और मनन। प्रस्तुत प्रबन्ध में उन सबका आपात-दर्शन होता है।' 'लेखक की समीक्षा-शक्ति अत्यन्त प्रशंसनीय है।' 'मेरी जानकारी के अनुसार श्रीमद्भागवत की स्तुतियों पर इस प्रकार का यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है।' 'डॉ० पांडेय ने श्रीमद्भागवत की स्तुतियों का शोध के विविध आयामों से बहुत अच्छा वैदुष्यपूर्ण, गम्भीर, विश्लेषणात्मक विवेचन किया है।' क्रमशः गुरुदेव तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ, डॉ० नथमल टाटिया, श्रीचंद रामपुरिया और मांगीलाल जैन के लिखे ये वाक्य निस्सन्देह प्रस्तुत ग्रन्थ का यथायोग्य सत्कार है।

भागवती संहिता सात्वती श्रुति है। इसमें सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय, वेदांत आदि का समन्वय भक्ति रूप में हुआ है। भक्ति मीमांसा सूत्र (४.१.७) में लिखा है—"भक्ति रेव परमः पुरुषार्थो मोक्षस्यापुरुषार्थत्वादिति तु भागवताः"—यह संभवतः श्रीमद्भागवत के कारण ही लिखा गया है। ऐसे 'भक्ति कल्पतरु' से स्तुतियों का दोहन और उनके हार्द को खोलकर भक्त-हृदय को आप्लावित करना सहज नहीं हो सकता किन्तु डॉ० हरिशंकर पांडेय ने उसे अपने पूज्य पिता डॉ० शिवदत्त पांडेय और मगध विश्वविद्यालय में संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० राय अश्विनीकुमार के कृपापूर्ण अनुग्रह और अपने अथक अध्यवसाय से सम्भव बना लिया—ऐसा लगता है।

वस्तुतः भक्ति का उद्गम बहुत प्राचीन है। यह जीव और परमात्मा के बीच उपासक और उपास्य का भाव उत्पन्न करती है। भक्ति-मीमांसाकार कहता है—भक्तेः **फलमीश्वर वशीकारः** और शांडिल्य भक्ति सूत्रकार मानता है—**भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः।** यही नहीं उपनिषद् भी भक्ति को अपरिहार्य कहते हैं और उसी से ज्ञान तत्त्व स्पष्ट होना स्वीकार करते हैं—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—श्वेताश्वेतर (६.२३)

ऋग्वेद में तो भक्तिपरक स्तुतियों का भण्डार था जो कालक्रम से विलुप्त और सूक्ष्म हो गया है। बृहद्देवता (३.१३०) में **कश्यप-आर्ष** नामक एक "जातवेदस सूक्त" होने की जानकारी मिलती है। उस सूत्र में एक-एक ऋक् (ऋच स्तुतौ) की वृद्धि होती थी और कुल पांच लाख चार सौ निन्यानवे ऋचाओं में जातवेदस् अग्नि की स्तुति पूर्ण होती थी—

द्व्यधा सहस्रर्चान्तं सूक्त नानाविधं भवेत्।
नवनवतिः पंचलक्षाः ऋचः स्युः सचतुशतम्॥

—वर्तमान में यह सूक्त उच्छिन्न हो चुका है किन्तु ऋग्वेद की प्रथम ऋचा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्निमीळे =अग्नि की स्तुति से आरम्भ है और **कश्यप-आर्ष** उसके प्रथम मण्डल का ९९वां सूक्त है। अतः सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक ऋषिगण कैसे-कितनी स्तुतियां करते थे। ईळ स्तुती (ईड स्तुती) का भागवतकार ने भी अनेकशः प्रयोग किया है। इसलिए डॉ० पांडेय के इस निष्कर्ष को माना जा सकता है कि **"वैदिक काल की तन्वङ्गी स्तुति प्रस्रविणी भागवतकाल तक आते-आते समस्त वसुन्धरा को आप्यायित करती हुई विराट् रूप धारण करती है।"**

श्रीमद्भागवत में स्तुतियों का सांगोपांग विवरण है। सकाम-निष्काम—दोनों प्रकार की १३२ स्तुतियां वहां उपलब्ध हैं। उनका स्वरूप, मनोविज्ञान, वस्तु विश्लेषण काव्य तत्त्व, रस, अलंकार, भाषा, छन्द आदि विविध पक्षों से समीक्षात्मक अध्ययन यहां हुआ है। यह भक्ति-दर्शन का सटीक विवेचन है। छपाई, गेटअप और प्रस्तुतीकरण भी मनोहारी है। जिज्ञासुओं को सहज-सुलभ होने के लिए ही संभवतः इसका मूल्य भी कम रखा गया है। प्रत्येक भक्त हृदय, अध्येता के लिए यह ग्रन्थ संग्रहणीय है।

३. जयोदय-महाकाव्य (उत्तरांश)

महाकवि भूरामल (आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज), ज्ञानोदय-प्रकाशन, पिसनहारी, जबलपुर-३, प्रथम संस्करण-सन् १९८९ मूल्य-७०/- रुपये।

आचार्य ज्ञानसागरजी एक विलक्षण व्यक्तित्व के महापुरुष थे। स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी में रह कर उन्होंने शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की, किन्तु उपाधियां पाना उनका उद्देश्य न था। डॉ० रतनचन्द्र जैन के अनुसार वे जैन विद्या के अध्येता थे और उस समय जैन विद्या के अधिकांश ग्रन्थ अज्ञात, अनुपलब्ध और अप्रकाशित थे सो उनकी शिक्षा समाप्त हो गई और विद्यार्जन शुरू हो गया। फलतः उन्हें जो भी ग्रन्थ मिला उसे आद्योपांत पढ़ते गए और ग्रन्थ मिलने बन्द हुए तो शिक्षा समाप्त मानकर अपने पैतृक गांव राणोली (सीकर) आ गए। यहां राणोली में रहकर उन्होंने **साहित्य-सर्जना** को अपना ध्येय बनाया और **दयोदय, ज्ञानोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, भद्रोदय, जयोदय** आदि संस्कृत में तथा **भाग्योदय, विवेकोदय, ऋषभावतार** इत्यादि हिन्दी में, सब मिलाकर २४ ग्रन्थ लिखे।

सुलोचना स्वयंवर अथवा **जयोदय**-महाकाव्य अधुनातनतन जैन साहित्य का अद्भुत ग्रन्थ है। विक्रमी सं० २००७ में जब इसे मूलरूप में प्रकाशित किया गया तो विद्वानों ने इसके कवि को असाधारण कोटि का कवि माना और काव्य का हार्द समझने के लिए स्वयं कवि से ही उस पर **स्वोपज्ञ** टीका लिखने का आग्रह किया गया। *महाकवि द्वारा टीका लिख देने पर भी स्व० पं० हीरालाल शास्त्री, पं० अमृतलालजी* साहित्याचार्य एवं पं० गोविन्द नरहरि बैजापुरकर ने उस टीका के आधार पर प्रथम १३ सर्गों का हिन्दी अनुवाद किया जो 'ज्ञानसागर ग्रन्थमाला, व्यावर' से सन् १९७८ में प्रकाशित हुआ किन्तु पं० हीरालालजी के दिवंगत हो जाने से शेष १४ से २८ सर्गों का अनुवाद कार्य नहीं हुआ। बाद में पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य ने यह अनुवाद किया जो सन् १९८९ में जयोदय-महाकाव्य—उत्तरांश रूप में 'ज्ञानोदय प्रकाशन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिसनहारी' से प्रकाशित हुआ है ।

जयोदय-काव्य की कथावस्तु भोग से योग, परिग्रह से त्याग और वीरता से शांतिमयता की ओर ले जाने वाली है । इस कथा के उपजीव्य साहित्य में महासेनकृत **सुलोचना कथा,** गुणभद्रकृत महापुराण के **अन्तिम सर्ग,** हस्तिमल्लकृत **सुलोचना नाटक,** वादि चन्द्रभट्टारककृत **सुलोचना चरित** और कामराज एवं प्रभुराज द्वारा रचे गए **जयकुमार चरित** आदि हैं । स्वयं कवि भूरामलजी ने उसे नानानव्य निवेदन, नव्यापद्धति, सुधाबन्धूज्ज्वल, अतिनव्य, अतिललित और मञ्जुतम काव्य की संज्ञाओं से अभिहित किया है । सर्ग— १, ३, १५, २२, २४, २७ के अन्त में कवि द्वारा प्रयुक्त ये विशेषण अपने श्रीकाव्य के प्रति उसकी अतिरिक्त सावधानी और सावचेती की ओर इंगित करते हैं ।

प्रस्तुत उत्तरांश में १४ वां सर्ग नदीतीरोद्यान पर वायुसेवन, १५वें सूर्यास्त और चन्द्रोदय, १६वें निशीथोत्तर पान गोष्ठी, १७वें सुरतापहार, १८वें में सुरतोत्तर प्रभात वर्णन, १९वें में प्रभात वन्दना, २०वें में जयकुमार का चक्रवर्ती भरत से वार्तालाप, २१वें में हस्तिनापुर को प्रस्थान, २२वें में जयकुमार और सुलोचना मिलन, २३वें दम्पत्ति वैभव वर्णन, २४वें तीर्थयात्रा, २५वें वैराग्य, २६वें अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक २७वें दीक्षा और २८वें उग्रतप का वर्णन है ।

पन्नालालजी ने १७वें सर्ग का हिन्दी अनुवाद नहीं किया । उसे संभोग शृंगार का वर्णन बताकर छोड़ दिया और १८वें सर्ग में प्रभात वर्णन के १०४ श्लोकों में १७ श्लोकों पर अपने विचार **सम्पादकीय प्रस्तुति** में लिख दिए । यह संभोग शृंगार वर्णन से बचने की चेष्टा है जो समीचीन नहीं लगती । वर्धमान चरितकार ने लिखा है—'न चारुतापि सुभगत्वविहीनः ।' सौन्दर्य-विवरण प्रकृतिमूलक और कलामूलक दोनों प्रकार का हो सकता है किन्तु सौन्दर्य विश्लेषण बाद जीवन-संभोग का वर्णन भी आवश्यक है । वनविहार, जलकेलि, उपवन यात्रा, संभोग क्रीड़ा, गोष्ठी समवाय आदि प्रत्येक जैन काव्य में देखे जा सकते हैं । इसी प्रकार शारीरिक मिलन से पूर्व उल्लास, पुलक, आनन्द और पीड़ा का अनुभव भी स्वतः वर्ण्य बन जाता है ।

नैषध काव्य में शृंगाररस का बहुविध परिपाक हुआ है । कवि मुनिभद्र ने शांतिनाथ चरित में माघ और नैषध से श्रेष्ठ काव्य लिखने की प्रतिज्ञा की किन्तु वे उसे पूरी नहीं कर सके । महाकवि भूरामल ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं की, फिर भी दो-एक उदाहरण देखिए—

(१) नैषध (६.३०)

छायामयः प्रैक्षिकयापि हारेनिजे स गच्छन्नथनेक्षमाणः ।
तच्चिन्तयान्तर्निरचायिचारू स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः ॥

जयोदय (१७.२८)

निचुम्बने ह्रीणतयानतास्या स्विन्ने ह्रदीश प्रतिबिम्ब भाष्यात् ।
समुन्नमय्याशुमुखं सुखेनबाला ददौ चुम्बनकं तु तेन ॥

नैषध की नायिका ने अपने हार में जाते हुए नायक की छवि देखी और फिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके चले जाने पर छवि न देखकर मान लिया कि वह उसके हृदय में प्रविष्ट हो गया। किन्तु **जयोदय** की नायिका चुम्बनकाल में शर्म से मुख नीचा करती है और अपने हार में पति-मुख को देखकर पुनः लज्जित होती है तथा मुख ऊंचा करती है तो पति उसे चूम लेता है।

(२) नैषध (६.५०)

स्रग्वासनादृष्टजनप्रसादः सत्येयमित्यद्भुतमापभूपः।
क्षिप्तामदृश्यत्वमितां च मालामालोक्य तां विस्मयतेस्मबाला॥

जयोदय (१७.२२)

सदस्यदः शीलितमेव माला क्षेपात्मकं ज्ञातवतीव बाला।
तच्चापलंचाप ललामसारं दृशापिलब्धुं न शशाक सारम्॥

यहां भी नैषध का नायक कल्पना में माला फेंक उसे वास्तविक मान कर और नायिका भी स्वप्निल माला को फेंककर न देख पाने से विस्मित हैं किन्तु जयोदय की नायिका स्वयंवर सभा में पहनाई माला की घटना को याद कर आते हुए पति को संकोचवश ठीक से देख ही नहीं पाती।

(३) नैषध (९.१२०)

गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनैः प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ।
निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्ममत्वमेकासि नलस्य जीवितुम्॥

जयोदय (१७.४२)

आप्तुं कुच हेमघटं शुशोच सकोऽररं कञ्चुकमुन्मुमोच।
चुकूज तन्व्या मृदुबन्धनश्वाभूद्रोमराजी प्रतिबोधमुद्वा॥

वियोग और संयोग के इन दो परिदृश्यों में नैषध नायिका अपने नायक के जीवित होने का आभास पाने को चुम्बन, कुचमर्दन तक कराने को तैयार है किन्तु जयोदय की नायिका पति द्वारा कंचुक हटाने की चेष्टा करने पर ही अरर् शब्द उच्चारित करती है और उसकी रोमावली जागृत हो जाती है।

संस्कृत काव्यों में भारवि अलंकृत काव्यशैली के प्रस्तोता कवि जाने जाते हैं। टीकाकार मल्लिनाथ ने इनके काव्य को **'नारिकेलफल सम्मितं वचो'**—जिस प्रकार नारियल के कठोर भाग को तोड़ने पर ही उसका रस प्राप्त होता है, उसी प्रकार पदों के भीतर प्रवेश से ही काव्यरस मिलता है—ऐसा कहा है। स्वयं भारवि का भी मानना है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

—किरात० २।२७

—कि पदों में स्फुटता, अर्थ-गौरव की स्वीकृति, शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ और पदों द्वारा अभीष्ट अर्थ का प्रचोदन काव्य में होना ही चाहिए। लगता है, **जयोदय** में यह काव्यगत गुण पुनः उदय हुआ है। इसके अलावा महाकवि द्वारा प्रयुक्त छन्दों में यथोचित विरामादि हैं जो बहुत सुखकर प्रतीत होते हैं। फिर भी, **वधिमधुरं मधु-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मधुरं द्राक्षमधुरा सुधाऽपि मधुरैव । तस्य तदेव हिमधुरं यस्य मनोयत्र संलग्नम् ।। उक्ति के अनुसार हो सकता है यह काव्य सबको न भी रूचे; किन्तु कवि-कर्म तो प्रशंस्य ही कहा जाएगा ।

४. जयोदय महाकाव्य का शैली वैज्ञानिक अनुशीलन

—कु० आराधना जैन, श्री दिगम्बर जैन मुनिसंघ चातुर्मास सेवा समिति, गंज बासौदा (विदिशा)—४६४२२१, प्रथम आवृति-सन् १९९४, मूल्य ५०/-रुपये ।

महाकवि भूरामल (आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज) की काव्यकृतियों पर सन् १९७८ में **महाकवि ज्ञानसागर के काव्य—एक अध्ययन**—शीर्षक से डॉ० किरण टण्डन ने शोध-प्रबन्ध लिखा था जो ईस्टर्न बुक लिंकर्स, ५८२५ न्यू चन्द्रावल रोड, जवाहर-नगर, दिल्ली से प्रकाशित हुआ । उसके पश्चात् सन् १९८२ में कैलाशपति पांडेय ने **जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन**—शीर्षक से अपना प्रबन्ध लिखकर गोरखपुर विश्वविद्यालय से पी० एच-डी० उपाधि प्राप्त की । इसी प्रकार आचार्य ज्ञानसागरजी के **दयोदय चम्पूकाव्य** पर कु० शिवा श्रमण ने सागर विश्वविद्यालय से शोधोपाधि अर्जित की है और श्रीमती अलका जैन **आचार्य ज्ञानसागर के साहित्य में शांतरसपरक तत्त्व ज्ञान**—शीर्षक शोधकार्य में संलग्न है जबकि कु० आराधना जैन ने **जयोदय महाकाव्य पर शैली वैज्ञानिक अनुशीलन**—शीर्षक से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध लिखा है और सन् १९९१ में पी-एच० डी० प्राप्त की है ।

यह प्रस्तुत अनुशीलन डॉ० पांडेय के शोध-कार्य के पिस्टपेषण से बचने का प्रयास है जैसा कि शोध-प्रबन्ध के निदेशक ने अपने पुरोवाक् में लिखा है 'जब मुझे पता चला कि प्रस्तुत महाकाव्य पर माननीय डॉ० के० पी० पांडेय पूर्व में ही शोध कार्य कर चुके हैं, तब मैं निराश हो गया क्योंकि जिस पारम्परिक काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से **जयोदय** के अनुशीलन की परिकल्पना मैंने की थी, डॉ० पांडेय ने भी उसी दृष्टि से उक्त महा-काव्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया था । फलस्वरूप मेरे द्वारा कराया जाने वाला कार्य पिष्टपेषण मात्र था ।' इस प्रकार "फिसल पड़े तो हर गंगे"—कहने की तरह यह शोध-कार्य हुआ है और कु० आराधना ने महाकवि के विपुल साहित्य का परिचय, दो नवीन जानकारी, उनकी अप्रकाशित कृतियों—'वीर शर्माभ्युदय' तथा 'संस्कृत भक्तियां' का परिचय इत्यादि द्वारा अपने शोध-कार्य की उपयोगिता बढ़ाने की चेष्टा की है ।

डॉ० रतनचन्द्र जैन के शब्दों में—'शैली विज्ञान साहित्य समीक्षा का भाषा विज्ञानपरक शास्त्र है ।' और उन्हीं के शब्दों में—'समीक्षा के क्षेत्र में इसका प्रवेश नया-नया ही है ।' फिर भी उन्होंने इस शोध-प्रबन्ध को आदर्श बनाने की चेष्टा नहीं की और जैसा शोध-प्रबन्ध छपा है उसे ही "बहुत सफल और उपयोगी" मान लिया—यह कम से कम आचार्य ज्ञानसागरजी के प्रति न्याय नहीं हुआ जिन्होंने जैन साहित्य की सिकुड़ती रसधारा को पुनः सराबोर करने के लिए अपना तनमन लगा दिया था ।

जयोदय-महाकाव्य में रस एवं भाव-विमर्श, अलंकार-निवेश, गुण, रीति एवं ध्वनि-विवेचन तथा छन्दोयोजना पर तो डॉ० पांडेय ने भी बहुत कुछ लिखा होगा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर क्यों नहीं प्रस्तुत प्रबन्ध में **भाषा विज्ञानपरक अध्ययन** को ही प्रमुखता दी गई; जैसा कि प्राक्कथन में डॉ० सत्यव्रत शास्त्री ने भी लिखा है—'जहां काव्य के अन्यपक्ष पर गहनता से विचार किया गया है वहां उसकी भाषा पर और अधिक सूक्ष्मता से विवेचन अपेक्षित है।

फिर भी मूलकथा में परिवर्तन का **औचित्य,** काव्य में रूढ़ि-वैचित्र्यवक्रता, पर्यायवक्रता, विशेषणवक्रता, संवृत्तिवक्रता, वृत्ति-वैचित्र्यवक्रता, लिंग वैचित्र्यवक्रता, क्रियावैचित्र्यवक्रता, कारकवक्रता, संख्यावक्रता, पुरुषवक्रता, उपसर्ग वक्रता, निपात-वक्रता, उपचार वक्रता आदि के उदाहरणों **की खोज,** मुहावरों **की पहचान,** बिम्ब योजना में कवि द्वारा प्रयुक्त अमूर्त भावों **की अभिव्यक्ति** और काव्य के पात्रों का मानवीय **चरित्र-विश्लेषण** आदि द्वारा आराधनाजी ने जो शोध-साधना की है वह स्तुत्य है। उन्होंने अनायास ही **जयोदय-महाकाव्य** में रसज्ञ-पाठकों के लिए चिन्तन-मनन के अनेकों नए आयाम खोल दिए हैं।

गेट अप, प्रस्तुति और मुद्रणादि अच्छा है। आचार्य ज्ञानसागर एवं आचार्य विद्यासागर के नयनाभिराम चित्र भी प्रकाशित किए हैं। पुस्तक संग्रहणीय है।

५. सप्त सन्धान काव्य—एक समीक्षात्मक अध्ययन

—डॉ० श्रेयांस कुमार जैन, अरिहन्त इन्टरनेशनल, बी-५/२६३, यमुना विहार, दिल्ली-५३, प्रथम संस्करण, सन् १९९२, मूल्य-१५०/- रुपये।

जैन कवियों ने द्विसन्धान, चतुस्संधान, पंच सन्धान, सप्त संधान एवं चतुर्विंशति सन्धान काव्य रचे हैं। महाकवि धनञ्जय का **द्विसन्धान महाकाव्य** सम्भवतः ऐसा प्रथम जैन महाकाव्य है। शांतिराज कवि के एक **पंच सन्धान काव्य** की हस्तलिपि आरा में बताई गई है। इसी क्रम में १८ वीं शती के सुप्रसिद्ध कवि मेघविजय उपाध्याय का **सप्त सन्धान महाकाव्य** आता है जिस पर डॉ० श्रेयांस कुमार ने यह समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

सन्धान-साहित्य, जैन संस्कृत साहित्य का गौरवपूर्ण अंग है, किन्तु इसका महत्त्व कम आंका गया है। कहते हैं कि सम्राट् अकबर की विद्वत्सभा में जैनों के **'समस्त सुत्तस्स अणन्तो अत्थो'** वाक्य का किसी ने उपहास किया। यह उपहास महोपाध्याय समयसुन्दर को बुरा लगा और उन्होंने **"राजानो ददते सौख्यम्"** इस आठ अक्षर वाले वाक्य के दस लाख बाईस हजार चार सौ सात अर्थ किए और वि० सं० १६४९ श्रावण शुक्ला त्रयोदशी को जब अकबर कश्मीर जाते समय राजा श्री रामदास की वाटिका में रूका और वहां विद्वत्सभा लगी तो कविवर ने वहां अपना यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया जिसे सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गए। बाद में कवि ने उनमें योजना विरुद्ध लगने वाले अर्थों को निकालकर ग्रन्थ का नाम **अष्टलक्षी** रखा।

डॉ० श्रेयांस कुमार ने भी इस साहित्य का वास्तविक परिचय देने के लिए ही यह शोध प्रबन्ध लिखने की प्रतिज्ञा की है। ऐतिहासिक विवेचन सहित ऐसे ग्रन्थों का परिचय देकर उन्होंने इस सप्त सन्धान का कथावस्तु, वर्णन कौशल और साहित्यिक दृष्टि से परिशीलन किया है। ऋषभदेव, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांच तीर्थंकर तथा श्रीराम और श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र इस काव्य में एक साथ निबद्ध हैं। उदाहरण के रूप में श्लेषालंकार से अर्थों का चमत्कार देखिए—

सहचरतया ये संजातास्तदा च-रणादिषु
निरशनतया तेऽपि प्रापुर्भुवं हरशेखराम्।
सुरसमुदितां सिन्धोः पारे भवस्य परम्परा-
क्रमणवशतो-लंकारागं प्रतीत्य महापदम्॥

—सप्त० ५।७

ऋषभदेव पक्ष—उनके अनुगामी भी उपवास करने लगे और सामर्थ्य न रहने पर प्रभु को छोड़कर शंकर के सिर पर विराजमान गंगा तट पर चले गए जहां देवता थे।

अन्य तीर्थंकर पक्ष—व्रत ग्रहण करते समय उनके अनुचर व्रत ग्रहण करने लगे और संसार-संकट के जनक शरीर के विषय में राग का परित्याग कर उच्च भूमि पर पहुंच गए।

राम पक्ष—वन गमन काल में जो राम का अनुगमन कर रहे थे वे वापस अयोध्या लौट आए और लंका में अनुराग रखनेवाले रावण के भय से लौट आए।

कृष्ण पक्ष—युद्धादि के समय सहायक लोग जरासंध के युद्ध में 'श्रीकृष्ण की भेदनीति के कारण द्वारकापुरी पहुंच गए। अथवा श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग का अनुभव करके द्वारका पहुंच गए।

श्री जैन ने मेघविजयगणि के हवाले से श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा भी, सप्त सन्धान काव्य की रचना की जानी लिखी है किन्तु उसके प्राप्त न होने से उन्होंने सप्त सन्धान काव्य की द्विसन्धान—राघव पाण्डवीय काव्य से तुलना की है। सप्त सन्धान का मुख्य रस शांत है जबकि राघवपांडवीय वीररस का काव्य है। इसके अलावा सप्त सन्धान जैन परम्पराश्रित है और राघव पाण्डवीय जैनेतर परम्पराश्रित; फिर भी दोनों अपने-अपने अभीप्सित उद्देश्य में सफल हुए हैं।

इस काव्य में दार्शनिक सिद्धांतों का उपस्थापन और आचार मीमांसा सम्बन्धी अणुव्रत, महाव्रतादि का भी संक्षिप्त विवेचन है। इसे भी उजागर किया जाता तो अधिक समीचीन होता। किन्तु जैन साहब ने **सप्त सन्धान काव्य** का अध्ययन करने के साथ-साथ इस प्रकार के अन्य काव्यों का परिचय देने की चेष्टा की है। अध्ययन के शीर्षक में उन्होंने **"सप्त सन्धानः"**, संयोजक चिह्न के स्थान पर विसर्गों का प्रयोग कर दिया जो खटकता है। किन्तु भौगोलिक, धार्मिक एवं दार्शनिक शब्दावली देकर उन्होंने इस काव्य का महत्त्व बढ़ाया है। अरिहन्त इण्टरनेशनल, दिल्ली ने इसे प्रकाशित कर पाठकों को उपलब्ध कराया; तदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

६. जिन वाणी के मोती

—दुलीचन्द जैन, जैन विद्या अनुसन्धान प्रतिष्ठान, १८, रामानुज अय्यर स्ट्रीट, साहुकारपेट, मद्रास-७९, प्रथम संस्करण-१९९३, मूल्य ५०/- रुपये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन वाणी के मोती सामान्य गृहस्थ के लिए आगम-साहित्य से संकलित बोधप्रद और मार्मिक सूक्तियों का संग्रह है जो मानव जीवन के लिए प्रेरणास्पद उपदेशों से भरापूरा होने से परम उपयोगी बन पड़ा है। सरल और हृदयस्पर्शी सूक्तियां सरल और प्रवाहमयी भाषा में अनुवादित होने से प्रत्येक जिज्ञासु पाठक के लिए सहज बोधगम्य हैं और दैनन्दिन जीवन में उत्साह एवं प्रेरणा देने वाली हैं।

संग्रह के अन्त में गाथाओं की अनुक्रमणिका दी गई है और आरम्भ में भगवान् महावीर की जीवनी और उनके संदेश को दिया गया है, जो नित्य पाठ के लिए उपयोगी है। संग्रहकर्ता सामाजिक कार्यकर्ता हैं और निजी व्यवसाय में लगे हैं किन्तु उन्होंने 'गहरे पानी पैठने से मोती मिलते हैं' —इस कहावत को चरितार्थ कर स्वाध्याय के लिए जिनवाणी के मोती चुन दिए हैं।

पुस्तक की साज-सज्जा, छपाई और प्रस्तुति कलापूर्ण है और सूक्तियों का अनुक्रम हितावह बन पड़ा है। यह आध्यात्म-पथिकों के लिए भी पाथेय सिद्ध होगा।

७. महामन्त्र णमोकार वैज्ञानिक अन्वेषण

लेखक—डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन, प्रकाशक-केलादेवी सुमति प्रसाद ट्रस्ट, बी-५/२६३, यमुना विहार, दिल्ली-५३, प्रथम संस्करण – सन्-१९९३, मूल्य-५०/- रुपये।

केलादेवी सुमतिप्रसाद ट्रस्ट, दिल्ली ने अब तक क्रमशः **आत्मा का वैभव, जैन गीता, छहढाला** —अनुवाद, **साइंटिफिक ट्रीटाइज ऑन ग्रेट नमोकार मन्त्र** और **णमोकार-वैज्ञानिक अन्वेषण** – पांच प्रकाशन किए हैं। अन्तिम दो कृतियां डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन की हैं। श्री जैन तिरूपति और मद्रास विश्वविद्यालयों में अध्यापन करते रहे हैं। उन्होंने अपने पुरोवाक् में लिखा है—"प्रस्तुत कृति वस्तुतः मेरे सेवावकाश से लगभग २ वर्ष पूर्व मेरे मानस क्षितिज पर उभरी थी। मैंने पढ़ा, सोचा और अनुभव किया कि णमोकार मन्त्र अनन्त पारलौकिक, लौकिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का अक्षय भण्डार है, इस पर कुछ वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना अधिक समीचीन और श्रेयस्कर होगा।" इस प्रकार यह उपक्रम उनके परिपक्व मानस का अध्यात्म-प्रवेश है।

उन्होंने लिखा है —'यह महामंत्र मूलतः अध्यात्मपरक है। पूर्ण नवकार मंत्र सिद्धि बोधक है और मूल पंचपदी मन्त्र अध्यात्म बोधक है।' उनका यह कथन भी संभवतः सन् १९८५ के नवंबर माह में, मद्रास में हुई अतिवृष्टि से संकट में फंसने और उनके द्वारा णमोकार मंत्र पाठ करने पर संकट मुक्ति से उनकी श्रद्धा-भक्ति से अनुप्राणित है। इसीलिए वे कहते हैं—"वैज्ञानिक शब्द से मेरा आशय विज्ञानपरक न होकर अधिक मात्रा में क्रम बद्ध, तर्क-संगत एवं सप्रमाण होना रहा है"—अर्थात् वे '**ए साइंटिफिक ट्रीटाइज ऑन ग्रेट नमोकार मन्त्र**' लिखकर भी अध्यात्मपरक वैज्ञानिकता को आत्मसात् नहीं कर सके हैं।

फिर भी नमोकार-महामन्त्र के सम्बन्ध में किया गया उनका चिन्तन-अनुचिन्तन **'मार्गस्थो नावसीदति'** के अनुसार उनके लिए तो कल्याण और अभयप्रद है ही श्रद्धालु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाठकों के लिए भी उदात्त-प्रेरणा का स्रोत बन गया है। **नमोकार मन्त्र का माहात्म्य एवं प्रभाव**—शीर्षक अध्याय में उन्होंने जो अर्जुनमाली, अंजनचोर, सुभीम चक्रवर्ती, श्रीपाल-मैना सुन्दरी आदि कथाओं के साथ अधुनातन घटनाओं का ब्यौरा दिया है वह विश्वासोत्पादक है।

आचार्य विमलसागरजी का **शुभाशीष** तो बहुत प्रेरणादायी है। तीन श्वासोच्छ्वास में मन्त्र जाप की उनकी शिक्षा निःसंदेह अनुभवजन्य चेतनानुभूति है जो आध्यात्मिक ऊर्जा समुत्पन्न करने वाली है। और भी इस प्रकाशन में अनेकों अभिनव चिन्तन हैं। आशा है, डॉ० जैन अपने इस दिशा में अपने प्रथम प्रयास को आगे बढ़ाएंगे और अपनी घोषणा अनुरूप संकेतित बिन्दुओं पर विस्तार से कार्य करेंगे जो निकट-भविष्य में जिज्ञासु पाठकों को भी उपलब्ध होगा।

८. देव, शास्त्र और गुरु

—डॉ० सुदर्शनलाल जैन, प्रकाशक—अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद्, १, सेन्ट्रल स्कूल कॉलोनी, वाराणसी-५, प्रथम संस्करण-१९९४, मूल्य-२०/- रुपये।

सतना (मध्य प्रदेश) में हुई एक बैठक में तय किया गया कि आगमों के अनुसार देव, शास्त्र और गुरु कौन हैं ? इसका निर्णय होना चाहिए। इस निमित्त विवादरहित शोधपूर्ण, प्रामाणिक और सर्व सुलभ ग्रन्थ की रचना का काम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० सुदर्शनलाल जैन को सौंपा गया और उन्होंने ऐसा एक ग्रन्थ तैयार कर खुरई में आयोजित बैठक में प्रस्तुत कर दिया। उनकी प्रस्तुति को सर्व-सम्मति से स्वीकार कर लिया गया और उसमें आंशिक परिवर्तन करके यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् का यह प्रकाशन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। परिशिष्ट में डॉ० जैन ने प्रसिद्धि दिगम्बर जैन शास्त्रकार आचार्य और शास्त्रों की नामावली दी है। आधुनिक पुरुषों द्वारा लिखित वचनों की प्रामाणिकता के सम्बंध में डॉ० जैन ने धवला-टीका के प्रमाण से लिखा है कि **यदि छद्मस्थों (अल्पज्ञों) का कथन राग, द्वेष और भय से रहित आचार्य-परम्परा का अनुसरण करता हो, वीतरागता का जनक हो, अहिंसा का पोषक हो तथा रत्नत्रय के अनुकूल हो तो प्रामाणिक है अन्यथा नहीं।** किन्तु प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में स्याद्वाद-सिद्धांत के अनुसार समन्वय का सुझाव दिया है क्योंकि उनकी राय में **आगमों में कुछ कथन निश्चयनयाश्रित है, कुछ विविध प्रकार के व्यवहारनयों के आश्रित हैं, कुछ उत्सर्ग मार्गाश्रित है तो कुछ अपवादमार्गाश्रित है।**

इसी प्रकार उनके अनुसार पौरुषेयता अप्रमाणता का कारण नहीं है। जैनागम कथंचित् अपौरुषेय तथा नित्य हैं। पूर्वाचार्यों की निष्पक्ष दृष्टि के प्रमाणस्वरूप उन्होंने धवला का एक प्रसंग उद्धृत किया है—**'उक्त (एक ही विषय में) दो (पृथक्-पृथक्) उपदेशों में कौन-सा उपदेश यथार्थ है, इस विषय में एलाचार्य का शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाता क्योंकि इस विषय का कोई न तो उपदेश प्राप्त है और न दो में से एक में कोई बाधा उत्पन्न होती है, किन्तु दोनों में से कोई एक ही सत्य होना चाहिए, इसे जानकर कहना उचित है।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही नहीं डॉ० जैन ने आगमों का अर्थ करने की पांच विधियां भी बतलाई हैं और लिखा है कि जहां जिस विधि से जो अर्थ प्राप्त होता हो उसे उसी विधि से जानना चाहिए तथा स्याद्वाद-सिद्धांतानुसार समन्वय करना चाहिए। ये पांच विधियां क्रमशः शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ की हैं जिन पर उन्होंने व्यापक विवेचन दिया है।

सर्वांश में पुस्तक पठनीय और मननीय है। उनका सारांश कि आचार्य, उपाध्याय और साधु में आचारगत तात्त्विक भेद नहीं, अपितु औपाधिक भेद है। तीनों ही श्रमण गुरु शब्द के वाचक हैं और अर्हत् अवस्था पाकर देव हो जाते हैं—भी मनन योग्य है। अन्त में डॉ० दरबारीलाल कोठिया के शब्दो में—**लेखक ने किसी भी विषय पर बिना शास्त्रीय प्रमाणों के लेखनी नहीं चलाई है। सधी हुई लेखनी के अतिरिक्त गहरा विचार भी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है।'**

९. कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया

—जगन्मोहनलाल शास्त्री, प्रकाशक—निज ज्ञानसागर शिक्षा कोष, मेडीक्योर लेबोरेट्री बिल्डिंग, प्रेमनगर, सतना (म० प्र०)। द्वितीय आवृति—सन्-१९९४, मूल्य-निःशुल्क।

कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया का पहला संस्करण जून, १९९३ में छपा था। अब मार्च १९९४ में उसकी दूसरी आवृति हुई है। इस दूसरी आवृत्ति में प्रथम संस्करण पढ़कर पाठकों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर भी दिए गए हैं और यह भाग भी मूल पुस्तक के आधे भाग के बराबर हो गया है। इससे ऐसी पुस्तक की आवश्यकता प्रतिपादित होती है।

वस्तुतः आचार्य विद्यासागरजी के चार प्रवचनों के संग्रह—**अकिंचित्कर** पर स्व० पं० फूलचन्द सिद्धांतशास्त्री के लेखन से यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि **मिथ्यात्व अकिंचित्कर कैसे है ?** पं० जगन्मोहनजी ने इस विषयक गम्भीर पर्यालोचन किया है और मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चारित्र के कर्मों को भिन्न-भिन्न बताया है। तीन आचार्यों के उद्धरण दिए हैं और मिथ्यात्व से कषाय उत्पत्ति नहीं होने से उसे अकिंचित्कर कहना उचित ठहराया है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया जटिल है और तत्संबंधी निर्णय भी आसान नहीं। इसलिए इस विषयक अन्तिम वक्तव्य देने के स्थान पर सत्यानुसंधान जारी रखना चाहिए और मिथ्यात्व और सम्यक्त्व पर प्राचीन आचार्यों के चिन्तन-अनुचिन्तन को सामने लाया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में उपाध्याय कनकनन्दी आदि के विचार भी पर्यालोचनीय हैं।

१०. छिन्दवाड़ा के प्रकाशन

श्री दिगम्बर जैन समाज, छिन्दवाड़ा, श्री दि० जैन गोला पूरब पंचायत, छिन्दवाड़ा; प्रो० शीलचन्द्र जैन, छिन्दवाड़ा और श्रीमती कुसुम जैन, धौरा (छतरपुर) के कतिपय लघु प्रकाशन प्राप्त हुए हैं। ये सभी प्रकाशन डेनियलसन कॉलेज, छिंदवाड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में हिन्दी विभाग के प्रो० शीलचन्द्र जैन द्वारा रचित काव्य पुष्प हैं। श्रीमती कुसुम जैन द्वारा प्रकाशित-**युगपुरुष आचार्यश्री विद्यासागर** भी प्रो० शीलचन्द्र जैन लिखित है। उनके सरल, सुबोध और श्रद्धा समन्वित ये पुष्प धर्म भावना को बढ़ाने वाले हैं। ऐसे प्रयास किए जाने चाहिए और वितरण भी निःशुल्क होना चाहिए। उन्होंने **पर्यावरण और शाकाहार** और **पर्यावरण और सदाचार** शीर्षक दो प्रकाशनों पर दो-दो रुपये मूल्य लिखा है किन्तु आशा है, वे भी निःशुल्क पुस्तकालयों और वाचनालयों में भेजे गए हैं।

११. शांत सुधारस

संस्कृत गेय काव्य—उपाध्याय श्री विनयविजयजी, श्री जैन श्वेतांबर मूर्ति-पूजक संघ, पेढ़ी।

गत १५ सितम्बर से २२ सितम्बर १९९४ तक आठ दिन, ज्ञान महोत्सव हेतु आचार्य हीरविजयसूरि जैन उपाश्रय, जैनवीसी, सिरोही में **शांत सुधारस** का गान हुआ और मुनिवर्य श्री पद्मविमलसागरजी के सान्निध्य में रमेश कोठारी, कमलेश चौधरी, अरविन्द मुटलिया, विपिन जैन, योगिता शाह और शिल्पा नागौरी ने इस काव्य को राग-निबद्धन किया। इस गान से मन के द्वन्द्वों को विराम मिला और मानसिक आह्लाद बढ़ा। इसलिए उसे प्रकाशित कर सर्वसुलभ किया गया है।

वस्तुतः यह भावना प्रबन्ध विक्रमी संवत् १७२३ में रचा गया काव्य है जिसे इस ज्ञान महोत्सव के लिए मुनि विमलसागर ने हिन्दी में अनुवाद किया है और मुनि पद्मविमलसागर ने उसे अपना स्वर प्रदान किया है। कतिपय उदाहरण देखिए—

राग-भैरवी —

कलयसंसारमतिदारूणम्, जन्ममरणादि भयभीत रे।
मोहरिपुणेहसगलग्रहम्, प्रतिपदं विपदमुपनीत रे॥ कलप०

राग-शिवरंजनी —

शृणु शिवसुखसाधनसदुपापम्, सदुपायं रे सदुपायम्।
शृणु शिवसुखसाधन-सदुपायम्,
ज्ञानादिक पावन रत्नत्रय-परमाराधनमनपापम्॥ शृणु०

राग-पीलू —

विनय विभावय गुणपरितोषम्, विनय विभावय गुणपरितोषम्।
निजसुकृताप्तवरेषु परेषु, परिहर दूरं मत्सरदोषम्॥ विनय०

राग-अहीर भैरव—

सुजनाभजतमुदाभगवन्तम् सुजनाभजतमुदा भगवन्तम्।
शरणागतजनमिह निष्कारण-करुणावन्तभवन्तं रे॥ सुजना०

राग-मालकौस—

विनय विभावय शाश्वतम्, हृदि लोकाकाशम्।
सकलचराचरधारणे, परिणभदवकाशम्॥ विनय०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. स्वाध्याय शिक्षा

सम्पादक डॉ० धर्मचन्द जैन, प्रकाशक—सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर, सन्-१९९४।

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ परमार्थिक ट्रस्ट, इन्दौर की ओर से सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल ने प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में **स्वाध्याय शिक्षा** का प्रकाशन शुरू कर रखा है जिसकी प्रस्तुत सत्ताईसवीं पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी के तीन खण्डों में ८० पृष्ठ की ज्ञानवर्द्धक सामग्री है। **प्राकृत खंड** में प्रा० माधवश्रीधर रणदिवे की लघु रचना—जेत्तिएण मोल्लेण गहिओ तेत्तिएण दिन्नो; श्री गौतमचन्द जैन की **संस्कृत खंड** में षड्लेश्या स्वरूपम् और **हिन्दी खंड** में डॉ० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया की कृति कर्म की दिशा-विचारोत्तेजक रचनाएं हैं।

१३. पाइय-कहाओ

—साध्वी कंचनकुमारी, लाडनूं, प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू, प्रथम संस्करण-१९९४, मूल्य-३०/- रुपये।

तेरापन्थ महासंघ में प्राकृत का लेखन-पाठन होता है। मुनिश्री कर्मचन्द द्वारा रचित **जयत्थुइ** सम्भवतः ऐसी पहली प्राकृत भाषा की रचना है। वर्तमान में मुनिश्री बुद्धमल्ल ने द्वात्रिंशका की तर्ज पर **अन्तकहा** लिखी है और मुनिश्री विमलकुमार ने **ललियंगचरियं, बंकचूलचरियं, देवदत्ताचरियं, सुबाहुचरियं, मियापुत्तं, पएसिचरियं** आदि कई प्रेरक चरित लिखें हैं जो अभी अप्रकाशित हैं; किन्तु साध्वी कंचनकुमारी की लिखी पुस्तक **पाइय-कहाओ** प्रकाशित हो गई है। प्राकृत भाषा के व्याख्याता डॉ० हरिशंकर पांडेय ने इसका संपादन किया है।

'पाइयकहाओ' में कुल ११७ कथाएं हैं। साध्वीश्री ने इन कथाओं के कथा तत्त्व को आगम टीका-साहित्य से लिया है। उनकी संरचना इस प्रकार की है कि वे मानवीय गुणों के विकास में सहायक होंगी। संस्कार-परिष्कार और चरित्र-निर्माण में आज के विशृंखलित मानव-जीवन के लिए ये कथाएं पथ-प्रदर्शक का काम कर सकती हैं।

डॉ० पांडेय ने **सम्पादकीय** में कथाओं का परिचय दे दिया है। कथाओं को शीर्षक देकर उनका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया है। आशा है, पुस्तक लोकप्रिय होगी।

१४. सरण मछंदर गोरख बोलै

—मदनलाल शर्मा, प्रकाशक—श्रद्धा प्रकाशन, वैद्यजी का नोहरा, पिलानी-३३३०३१, प्रथम संस्करण, मूल्य-सवा तेरह रुपये।

राजस्थान में एक कहावत प्रसिद्ध है कि "ग्यान तो गोरख रो, जल तो गंगाजल। रूप तो पार्वती रो, पंडत तो माघ॥" इसमें गोरखनाथ का प्रभाव पांच सदी तक एकसा बना रहा क्योंकि मछंदरनाथ अर गोरखनाथ, गोरखनाथ अर भरथरी, गोरखनाथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर पूरणमल, गोरखनाथ अर भरड़ो तथा गोरखनाथ अर कबीरदास की कथाएं मशहूर हैं। दसवीं सदी में हुए गोरखनाथ के साथ १५वीं सदी तक के सन्तों को जोड़ दिया गया है। यही नहीं १६वीं सदी विक्रमी में हुए सिद्ध जसनाथ ने भी गोरखनाथ दर्शन करने का दावा किया है—

धिनस धियाड़ो अजमल ऊग्यो, ऊग्यो सोनैं केरो भाण।
भागथली गुरु गोरखमिलिया, दरसण दीन्या म्हानैं आण॥

वास्तव में गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और जालंधरनाथ क्रमशः कौलमार्गी और वाममार्गी सम्प्रदायों में हुए हैं जिनकी पीठ क्रमशः ओडियान (ज्वालामुखी) और जलंधर (पंजाब) में थी। (कौलमार्ग का एक आम्नाय राणौली (सीकर) में था जिसमें उत्पन्न भावरक्त (अल्लट) ने हर्ष पर्वत का शिवमन्दिर निर्माण कराया था।) ओडियान के आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ थे। गोरखनाथ ने 'सहजावस्था' के नाम पर हो रहे शिथिलाचार को समाप्त कर षडंगयोग अथवा हठयोग की प्रतिष्ठा की और अलख-निरंजन की नई व्याख्या करके उसे शिव से जोड़ दिया जिससे नाथ-सम्प्रदाय के रूप में एक नया सम्प्रदाय उदय हुआ। यह सम्प्रदाय पूरे उत्तर भारत में फैला किन्तु उत्तर-पश्चिमी राजस्थान इसका केन्द्र बना रहा।

श्री मदनलाल शर्मा ने इस क्षेत्र में मौखिक रूप से प्रचलित लगभग दो सौ पचास सब्द-वाणियों का संग्रह किया है और उनमें से चुनींदा ७२ वाणियों को सरण मछंदर गोरख बोलै शीर्षक से प्रकाशित किया है। इनमें भी एक शब्द में स्वयं गोरख ने मत्येन्द्रनाथ को अपना गुरु बनाया है—

सुन्न में आया सुन्न में जाया, सुन्न में सहर बसायाजी।
माथै हाथ मछंदर धरिया, गोरखनाथ कुहाया जी॥

श्री शर्मा का संग्रह कार्य और सम्पादन उच्च कोटि का बन पड़ा है और 'गोरखवाणी' तथा "नाथसिद्धों की बानियां" जैसे पूर्व प्रकाशनों से अधिक प्रामाणिक हैं क्योंकि ये बानियां सीधे लोक से आई हैं। पुस्तक के अन्त में शब्दार्थ और पारिभाषिक शब्दार्थ दे दिए हैं। एक परिशिष्ट में प्रतीकार्थ भी दिए हैं जिससे अनुवादित वाणियों को समझने में आसानी है।

१५. कायमखानी वंश का इतिहास

—डॉ० रतनलाल मिश्र, प्रकाशक-कुटीर प्रकाशन, मण्डावा (झुन्झुनू), प्रथम संस्करण—सन्-१९९४, मूल्य-एक सौ रुपये।

'इतिहास का यह परम सिद्धांत है कि अनेकों जातियां पूर्व परम्पराओं को विस्मृत कर नए मानव समुद्र में एकाकार हो जाती हैं।'—लेखक ने इस सत्य को अंगीकार करके यह कायमखानी वंश का इतिहास लिखा है। उसका कहना है—कायमखानी नवाबों की सविशेष उपलब्धियों को नकार कर कुछ पुस्तकें पिछले दिनों में प्रकाशित हुई हैं। उनमें कायमखानी नबाबों की कीर्ति को धूमिल करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु प्रस्तुत इतिहास में उसने मिथ्यारोपों को दूर कर उनकी उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लब्धियों का वास्तविक दिग्दर्शन किया है।

लेखक के उपर्युक्त कथन में सत्यांश है। उसने इस इतिहास को उपलब्ध सभी तरह के दस्तावेजों का उपयोग करके फलितार्थ की तरह लिखा है। कायमखानियों के उद्भव में तत्कालीन राजनीति; राठौड़ और गहलोतों की मजबूरी; देहली सल्तनत पर तैमूर के आक्रमण और उसके प्रतिनिधि खिज्रखां के सामने दौलतखां का आत्म-समर्पण तथा शेखावाटी प्रदेश की भौगोलिक परिस्थिति ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। अपनी नबाबियां कायम करने के बाद कायमखानी नबाबों ने दिल्ली से अपने सम्बन्ध बनाए रखे और वे पठानों और राजपूतों के मध्य निर्विघ्न रूप से राज्य करते रहे। इनकी धार्मिक सहिष्णुता, कलाप्रेम और शौर्य भी उन्हें यथास्थिति कायम रहने में मददगार बना।

लेखक ने न्यामतखां उपनाम जान कवि और प्रसिद्ध कवयित्री ताज के कायम-खानी-साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान खींचा है। झुन्झुनू और फतहपुर के स्थापत्य का सचित्र परिचय दिया है। **केड़, बड़वासी, बेरी और डोसी** के कायमखानियों का लुप्त इतिहास भी लेखक ने खोज निकाला है। इसी प्रकार नबाब कायमखां सम्बन्धी उनका पर्यालोचित-इतिहास भी विश्वसनीय बन पड़ा है।

आशा है, वे इसी प्रकार चौहानों से निकले दूसरे वंश-मोहिलों का इतिहास भी शीघ्र ही प्रकाश में लाएंगे—जैसी कि उन्होंने घोषणा की है।

प्राप्ति स्वीकार

१. आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज के शिष्य मुनि तरुणसागर और मुनि प्रज्ञासागरजी की दो कृतियां प्राप्त हुई हैं क्रमशः **प्रेस वार्ताएं** जिसमें पांच प्रेस वार्ताओं का संकलन है और **अनहद गूंज** जिसमें प्रज्ञासागरजी की कविताएं हैं।

२. आचार्यश्री देवराज यशसूरीश्वरजी महाराज द्वारा लिखित तीन लघु पुस्तिकाएं प्राप्त हुई हैं—(१) **जैन धर्म की रूपरेखा** जो पूर्व, गुजराती में लिखी गई थी उसका यह हिन्दी अनुवाद है। (२) **पर्युषण-चिन्तनिका**, पर्वाधिराज पर्युषण के आठ दिनों का उपदेश और (३) **रात्रि भोजन महापाप**—पुस्तिका में रात्रि भोजन के दोष बताकर उसे त्यागने की प्रेरणा दी गई है।

—**परमेश्वर सोलंकी**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

TULSĪ PRAJÑĀ

Vol. XX : No. Three
October-December, 1994

English Section

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

VEGETARIAN DIET : SCIENTIFIC VIEWS

● *Suresh Jain*

Humans like other living organisms require proper food for growth and various activities of life. Being a supreme creature in living kingdom, he has exploited several resources for his food and for other purposes without proper scientific and religious considerations. This unreasonable exploitation has led to a serious food shortage in the present day world.

Food is necessary for proper growth and to maintain various activities of life. All the materials like carbohydrates, proteins, fats, minerals, vitamins and water are taken by us from the environment. The desired proportion of these materials form a 'balanced diet' and must contain about 450 g. carbohydrates, 60 g. proteins, 50 g. fats and materials with minerals, vitamins, etc. for proper growth and health in the diet of an adult human.

It has been estimated by FAO that food production can be increased upto 20 times and can easily cope with the increasing population on this earth. The annual increase in food production is only 2.7% whereas the demand by the increasing population is growing by 2.9%. This has led to a serious food problem and about 20% of the world's population is living under absolute poverty at present. This situation persists despite the applications of various scientific and technological developments. The food problem is also related to the non availability of nutritious food, ignorance about the nutritious values of food and acceptance of undesirable practices and fallacies about some food items.

The environmental hazards due to uncontrolled technological developments and large increases in consumption of animal proteins in recent decades are also responsible for this ever increasing food problem to a great extent. It has been observed that about 70,000 km useful land goes out of production annually due to desertification, threatening the life of about 50 million people. Tropical forests are destroyed at the rate of about 1.3 million hectares per annum in Africa alone. About 33% of the total world's cereal output is used as animal food to get animal protein. About 5-20 kilos of vegetable protein go to produce one kilo of animal protein. Thus a check on the consumption of animal proteins can solve the present day food

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

problem without any extra food production. The most efficient use of plants is made when they are eaten directly by men without converting them to animal proteins.

Food and their Importance :

Human require a balanced diet full of the desired components for proper growth and health. Plants and their products are the cheapest and best sources for the human diet. Carbohydrates can be obtained from sugar, rice, wheat, beans, dried milk, potato, banana, proteins from soya flour, grounds-nuts, dried milk, cheese, beans; fats from butter, groundnuts, cheese etc. The major sources of the calcium necessary for bones are milk, cheese and green vegetables whereas sources of iron necessary for the haemoglobin of blood are spinach, peas, beans, wheat and potatoes. The major sources of vitamins, essential for normal growth are milk, butter, carrots, tomatoes, green vegetables, peas, beans, yeast, wheat, citrus fruits and pine-apples. The roughage, which can be best developed from undigested cellulose of vegetables is necessary in strengthening the walls of the colon and in stimulating reflex persistalsis. 'A-ama', a Nigerian best baby food, contains proteins from groundnut flour, dried yeast and milk, carbohydrates from sugar with minerals and vitamins all from plants.

Carbohydrate deficiency causes weakness, fatigue, underweight, restlessness and liver troubles whereas protein deficiency retards growth and causes anaemia and delayed healing of wounds. The rickets are due to lack of calcium, anaemia is due to lack of iron, dwarfism and goitre are due to lack of iodine, renal diseases are due to lack of magnesium, nausea and diarrhoea are due to lack of sodium, pigmentation of hair and skin are due to lack of sulphur and so on. The vitamin deficiency diseases like night blindness, due to lack of vitamin A, beri-bari and constipation due to shortage of vitamin B, scurvy and weak bones due to scarcity of vitamin C, rickets and fatbelly—due to vitamin D deficiency are well known to all of us.

Human in Animal Kingdom :

Biologically the human has the highest position in the animal kingdom with his well developed brain. He belongs to the order Primate with his other biological mates like gorilla, chimpanzee, gibbon and baboon. It is believed that the needs and opportunities in an arboreal habit at and ability to climb by grasping a limb resulted in the development of the brain and powerful hands in the members of this order. The champanzee has a less arboreal habitat and the gorilla is nearly terrestrial in habitat and can move on two

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

limbs. The fossil 'man-apes' of South Africa structurally bridges the gap between man and his ancestors. Looking to feeding habits all biologically related mates of humans feed on plants and their products Man, Great Apes-Gibbon, gorilla, chimpanzee. Old World monkey-Baboons of Africa and Asia. New World monkey. Tarsioids Primates-Lemurs.

According to geological records, the human came on the earth in the holocene epoch of the quaternary period of the cenozoic era. It may be about 2 million years ago that human first touched the land. About 10,000 years ago man used to derive his food by collecting edible parts of the naturally growing plants and trapping small animals. The habit of living in groups and hunting bigger animals in an organised way was developed later on. The next stage in the civilisation was the beginning of organised agriculture.

Body and Vegetarian Diet :

Man occupies the highest position in the animal kingdom according to organic evolution. The great-apes like baboons, gibbons, gorilla, chimpanzee are the biological mates of the human (*Homo sapiens*). The gorilla is considered to be closer to man. The fossil 'man-apes' (*Australopithecus*) of South Africa structurally bridge the gap between man and his ancestors. All these biological mates of human are vegetarian in diet.

Various structures in the human body support the idea that a vegetarian diet is the best for human beings. The structures are, large number of grinding teeth, big size with large internal surface of small intestine, secretion of digestive juices in large amount, need of ample roughage numerous tasts buds in tongue, etc. The strong digestive power necessary to digest a vegetarian diet is a gift of nature. The five pairs of premolars and molars teeth with 2-4 cusps are used for crushing solid foods from plants. Two pairs of incisore in front of each jaw are fit for breaking solid food into small pieces for crushing. A pair of canine teeth used for tearing is highly reduced in human whereas canines are more well developed in carnivores. The presence of about 9000 taste buds in human tongue are used for testing different varieties of tastes available in vegetarian foods.

There are several digestive juices like, saliva with ptylin, gastric juice with pepsin and rennin, pancreatic juice with trypsin, amylase and lipase and bile juice from liver. It is observed that an adult human produces about 1.5 litre of gastric juice, 1.5 litre of pancreatic juice and one litre of bile juice daily for proper digestion of hard and strong foods from plants. The presence of the thick

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

muscular walls of the stomach to produce a churning action on food is a character suited for the digestion of vegetables with hard cellulose walls. The long size and large internal surface with about 5 million villi help in the absorption of digested food. Later the absrobed food enters the blood stream to produce energy for body requirements.

It is observed that a greasy meal with meat and fats lies more heavily on the stomach than carbohydrates. It is also believed that meat and other animal proteins in the diet is unhealthy. The evidence, shows that the high level of animal fat present in meat (pork 40 %, beef-28%) is responsible for coronary heart diseases. There are about 3,00,000 deaths in USA annually due to coronary heart diseases and lung cancer. A diet with ample roughage from the cellulose of plants and vegetables is necessary to avoid constipation in human and to help in strengthening the walls of the colon including peristalsis movement food.

Vegetarian Diet and Science :

The scientific investigations of various food items and estimation of their food values depict that plants are the best sources of carbohydrates, proteins, fats, minerals and vitamins necessary for proper growth and health. The analysis of the energy value of various food items also support the idea that plants are the best sources for energy requirements.

Table-Food values for various food items :

S. No.	CORBOHYDRATES	PROTEINS	FATS	ENERGY VALUE (kj./10 g.)
1.	Sugar—100 %	Soyaflour—40 %	Butter—83 %	Butter—312
2.	Rice-87%	Groundnut-28%	G. Nut-49%	Groundnut-245
3.	Wheat-47%	Dried milk-27%	Pork-40%	Dried milk-206
4.	Beans-45%	Cheese-25%	Cheese-35%	Soyaflour-181
5.	Driedmilk-38%	Beans-22%	Driedmilk 28%	Cheese-173.
6.	Banana-19%	Chicken-21%	Beaf-28%	Pork-171
7.	Potato-18%	Liver-17%	Soyaflour-24%	Sugar-165.
8.	Soyaflour-13%	Whitefish-16%	Egg-12%	Rice-150
9.	Orange-8%	Egg-12%	Liver-8%	Beef-131.
10.	Carrot-5%	Pork-12%	Chicken-7%	Wheat-101

These estimated values of various food items used by us depict that plants and their products are the best sources for carbodydrates, proteins and fats. The energy values of eatable items also support the same idea to a greater extent. The milk, butter and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

cheese are the animal products and does not involve any killing of animals.

Table—Sources of minerals and vitamins :

S.No Calcium	Iron	Vitamin-A*	Vit B
1. Cheese-81%	Liver .014%	Liver-600	Pork 100
2. Driedmilk .81%	Soyaflour 007%	Carrot 200	S. flour 74
3. Soyaflour .21%	Beans .0067%	Spinach 100	Beans 45
4. Wheat .28%	Spinach 0.0 3%	Butter 99.5	Driedmilk 31
5. Beans .18%	Eggs .0025%	Cheese 42	Wheat 24

Vit. C	Vit. D	Vit. E.	Vit. K.
Spinach 6000	Egg .15	Green —	Vegetables
Orange 5000	Butter 125	—	—
Potato 2000	Liver .07	—	—
Liver 2000	Cheese .04	—	—
Driedmilk 1100	D/Milk 0.03	—	—

*Vitamins amount is in micrograms/10 g. of food.

It has been observed scientifically that losses in transfer of energy at each level of the food chain is very high. Only 5% of the energy present in plants is used to prepare flood and bones in the animals—say Cow, 35% is used in maintaining life activities of the animal and remaining 60% is lost as undigested. The total energy of a level is always less than the preceding level. In other words, the total energy diminishes as the energy flows up the pyramid. The energy from 18 producers (plants) can feed 9 herbivores, which in turn feed 3 carnivores and later one top consumer-the man. Thus it is clear that ff the top consumer-man were to eat only plants, it would be possible to feed more men Plants directly could support 3 men instead of one by animal proteins.

The large scale industrialisation necessary for the processing, preservation and transportation of animal proteins for the consumption of man can also be checked by reducing the consumption of animal proteins. This in turn will save us from various environmental hazards including deforestation, erosion, desertification, etc.

Vegetarian Diet and Religions :

Religion is a spiritual discipline and a belief in spiritual beings. It is a natural phenomenon which appears to be as old as human race. It is a binding force on human with human. The production of food from animal is done by industrial animal breeding methods of unspeakable cruelty. This cruelty also hardens human sensibility towards fellow human beings and demages the very basis of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

religions. Alfred Kaestler (1978) mentioned at UNESCO roundtable conference that since animals are our biological brothers, the time has come that in the interest of man's own future this 'cartesian partition' between human beings and other living creatures should be broken. This partition is totally unscientific and unreasonable.

Scientists observed that 'from an ecologist's perspective, there is no dichotomy between man and other living things'. The natural laws demand the concurrence of all the species that live under them. Ruskin in his UNTO THE LAST states "That the good of the individual is contained in the good of all". Our God is the same God. This earth is precious to him, and to harm the earth is to heap contempt on its Creator. Schumacher (1977) mentioned that modern experiments to live without religion have failed, whereas Whitehead (1962) states that the future of the civilization depends on the degree to which we can balance the forces of science and religion.

All the religions followed by human in various parts of the World also speak in favour of vegetarian diet for the human. In Christianity it is believed that—"God commanded that man should not eat the blood of animal along with its flesh. The blood symbolises the animal's life and that belongs to God '(Genesis 9:4,5.). This explains why man should not kill animals for his consumption. The killing will produce blood and destroy life, which has been created by God and not by man. Another reference states that even carnivores should feed on plants and thus support the recent scientific investigations about the losses of energy by feeding on animals. "Wolves and sheep will live together in peace and the leopard will lie down with young goats, cows and lion cubs will feed together and little children will take care of them. Lions will eat straw as cattle do" (Isaiah 11:6,7). Even in Islam, it is mentioned that 'O people, fear your lord who created you from a single soul, and created from it, its mate' (al-nisa V. 1). These facts suggest that all the creatures are equal and created by a supreme power. Now, a days it is believed that the human has no right to take the life of any creature as he cannot give life to any one.

Conclusion :

The health of human beings is vital to the progress of humanity and future generations including human civilisation. We should have development without destruction. We begin with the notion, that humanity must survive and we should change our attitudes towards nature and natural resources including other living animals. We know that our ingenuity, which brought technological advances,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

now threatens the life systems on this planet. The rate of desertification, urbanisation and even population growth is the highest at present.

What can be done ? The answer, we believe, lies in education, in providing information to the public so that within another generation, humanity will recognise its role as protector and participant in nature, not conqueror. I think the change begins at local level, societal values and policies change from person to person, community to community. It is necessary to bring about a value orientation where an enlightened community will be judged not by the amount of resources it is able to consume but by the amount of resources it is able to conserve. □

References :

1. Ewington, E.J. and Moore, D.F. 1978. Human Biology and Hygiene, Routledge & Kegan Paul, London.
2. Jain, S.C. 1978. Nutrition Education in Indian Schools. Proc. XV-Intl. Congr. on Nutrition, Rio-de-Janeiro.
3. Jain, S.C. 1982. Man-Environment Impact. Public Lecture delivered at Oyo State College of Educalion, ILA-Orangun, Nigeria
4. Jolly, A. 1972. The Evolution of Primates Behaviour. Mac Millan Co., New York.
5. Omotoso, S.O. 1983. Religious Fanaticism and its threat on Nigeria's Security. Lecture delivered to students of OYSCE, Ibadan and 8th Dec., 1983.
6. Mackean, D. and Jones, B. 1979. Introduction to Human and Social Biology, John Murray, London.
7. Schumacher, E.F. 1977. A guide for the Perplexed. Jonathan Cape, London.
8. Schroedinger, E. 1948. What is Life ? Cambridge University Press, Cambridge.
9. Turpin, R. and Lejeune, J. 1969. Human Affections and Chromosomal Aberrations, Pergamon Press, London.
10. Whitehead, A.N. 1962. Aims of Education. Ernst Bann, London.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

TEMPERATURE BIOFEEDBACK : AN EXPERIMENAL REVIEW AND RESEARCH*

● *J.P.N. Mishra* &
● *B.K. Chhajer*

Abstract : Research on the physiological machanisms of finger temperature biofeedback with normal subjects and Raynaud's disease patients is reviewed. Studies have shown that feedback-induced vasodilation is mediated through a non-neural, B-adrenergic mechanism rather than through reductions in sympathetic nervous system activation. In contrast, feedback-induced vasoconstriction is mediated through the traditional, sympathetic nervous pathway. When used with primary Raynaud's disease patients, feedback-induced vasodilation has achieved reductions in reported symptom frequency ranging from 66% to 92% in controlled investigations. Future research directions are discussed.

Physiological Control of Finger Blood Flow

The digital vasculature is almost entirely cutaneous and plays a fundamental role in the regulation of body temperature. The palmar surface and tip of the finger are rich in arteriovenous anestomoses (or shunts) which function in paralled with the capillary bed. These shunts have the capacity to rapidly vary their lumen size and rate of blood flow in response to changes in external temperature. This is accomplished mainly through increased sympathetic adrenergic vasoconstrictor nerves. Body cooling causes reflex finger vasoconstriction through increased neural activity, and conversely, body heating produces vasodilation through withdrawal of this activity. Finger capillary blood flow is somewhat affected by sympathetic nervous system (SNS) activity, though to a lesser extent than arteriovenous shunt flow (Coffman, 1972). There are no known vasodilating nerves in tha human finger, although such nerves do exist in the skin of the forearm (Shepherd, 1963).

Finger blood flow is also controlled through the interactions of circulating vasoactive substances with alpha-and beta-adrenergic receptors to produce vasoconstriction and vasodilation. Circulating catecholamines, released from the 'adrenal medulla' and from other nerve endings "upstream," act at alpha-adrenergic receptors to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

produce vasoconstriction. These alpha receptors are probably closer to the lumen than those that respond to norepinephrine released from sympathetic nerve endings Alpha and beta receptors have been divided into two subtypes based on their relative sensitivities to different agonists. A beta-adrenergic vasodilating mechanism has recently been discovered in the finger by injecting isoproterenol, a synthetic beta-adrenergic agonist, into the brachial artery and then blocking this effect with propanolol, a beta-adrenergic antagonists (Cohen & Coffmann, 1981). However an endogenous ligand that acts of these beta receptors has not yet been found.

The sensitivities of vascular adrenergic receptars change according to temperature and represent one means of local control of blood flow. Other local influences include changes in blood gases and metabolism, myogenic tone, and the axon reflex (Vanhoutte, 1980).

Self-Control of Finger Blood Flow-Studies in Normal Subjects

Early investigations of self-induced vasodilation combined the effects of procedures such as finger temperature biofeedback, monetary rewards, and suggestions of thermal imagery. For example, Taub and Emurian (1976) reported an uncontrolled study in which 9 subjects were trained to increase and 12 subjects were trained to decrease hand temperature using feedback. Subjects were also encouraged to use thermal imagery and nine subjects received monetary rewards for changes in temperature. The authors stated that clear evidence of learning usually occurred within four sessions and that the average temperature change per session was approximately 1.20° C. Two subjects, selected on the basis of superior performance, were given additional training to increase and decrease temperature and showed changes of 5°C to 7.7° C.

The controlled studies, subsequently performed by Surwit et al, (1976), failed to demonstrate significant elevations in finger temperature using biofeedback and monetary rewards. In the first study, two groups of 8 subjects each received training to either increase or decrease finger temperature. Half the subjects in each group received 7 training sessions and half received 11 sessions. Although the decrease group produced significant temperature declines (-2.0° C), the elevations shown by the increase group (0.25° C) were nonsignificant. Varying the number of training sessions had no effect. The authors hypothesized that the poor performance of the increase subjects might have been due to their approaching maximal finger temperature levels. They therefore trained 8 additional subjects in a

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

cooler (19.5° C) environment in order to reduce basal levels of finger temperature. However, this procedure did not improve performance. Significant within-session changes in heart and respiration rates did not occur in either study.

Three controlled studies by Keefe did find significant temperature increase using finger temperature feedback and other procedures. In the first study (Keefe, 1975). two groups of 4 subjects each were instructed to either raise or lower the temperature of their finger in comparison with their forehead. All subjects received 12 sessions of temperature feedback training, each consisting of a 5-minute baseline and a 10-minute feedback period. Data analyzed from the final training session showed significant finger temperature increases (+1° C) and decreases (−0.8° C) relative to forehead temperature. In the second study (Keefe, 1978), six groups of 10 subjects each were rendomly assigned to receive various combinations of temperature feedback, thermal suggestions, and response-specific instructions. Subjects received five daily training sessions (10-minute baseline, 10-minute training) and two follow-up sessions, 1 and 2 weeks later. Subjects given either feedback and response-specific instructions, feedback and thermal suggestions, or no feedback and thermal suggestions were able to produce significant increases (0.8° C to 1.1° C) in finger temperature by the third training session and to maintain this ability during the two follow-up sessions. In the final investigation (Keefe & Gardner, 1979), subjects given brief temperature feedback training sessions again demonstrated significant within-session temperature increase by the third session. Increasing the number of training sessions to 20 did not increase the magnitude of the response, which was approximately 1.3° C.

For finger temperature self-control to be of practical value it presumably must be replicable without the use of feedback instrumentation. The first study to examine the ability to increase finger temperature in the absence of feedback was conducted by Stoffer et al, (1979) although they did not examine the ability to perform this task prior to training. Twenty-four subjects were instructed to increase finger temperature using either contingent feedback, false feedback groups produced significant temperature elevations (40.5° C). During the posttraining test of voluntary control without feedback, only the contigent feedback group could increase digital temperature significantly (+0.4° °C).

Two studies conducted by Freedman & Ianni (1983) were designed to assess the ability to increase finger temperature without feed-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

back as well as outside the laboratory and to determine if physiological relaxation is necessary for feedback-induced vasidilation. In the first experiment, 32 subjects were assigned randomly to receive six sessions of finger temperature feedback, frontalis electromyogram (EMG) feedback autogeuic training, or simple instructions to increase finger temperature. Each session consisted of 16-minute baseline period, a 24-minute training or instruction period, and a final 16-minute baseline. The ability to increase temperature voluntarily without feedback was tested before training, after training and outside the laboratory during ambulatory monitoring. In addition to finger temperature, heart rate, respiration rate, frontalis EMG and skin conductance level were recorded continuously during each session.

In the pretraining voluntary control session subjects' finger temperature declined, demonstrating that peripheral vasodilation did not occur prior to training. During training, subjects receiving temperature feedback showed significant increases in finger temperature during the first 12 minutes of the first session only, an effect not shown by the other subjects. During the subsequent five training sessions, significant temperature elevations were not shown by any group Subjects as a whole showed within session declines in heart rate, respiration rate and frontalis EMG level. During the posttraining test of voluntary control in the laboratory, only the temperature feedback group produced a significant elevation in digital temperature. In the final voluntary control, test, conducted outside the laboratory, no temperature increases were found. Thus evidence for having trained the response through biofeedback was found upon removal of the feedback as long as subjects were asked to vasodilate in the same environment in which they were trained. It appears, however that the response was not robust enough for generalization to occur.

It was hypotheiszed that finger temperature elevations produced during temperature feedback might be time limited or that excessive session lenth might impede training. Kluger and Tursky (1982) also found that feedback-induced femperature increases peacked early in the session and subsequently declined. Shortening the session length resulted in a robust laboratory training effect and also enhanced generalization of the response an extralaboratory setting Subjects as a whole showed significant heart rate declines during this session.

As opposed to biofeedback, considerably less research has been done on the use of relaxation procedures to increase in normal subjects. Bouydewuns (1976) found significant increase in finger tem-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

perature while subjects listened to brief taperecorded relaxation instructions; these changes were not correlated with measures of skin conductance level or heart rate.

Raynaud's Disease

Raynaud's disease is a disorder of the peripheral vasculature in which episodic vasospasms occur in the fingers, toes and occassionally, in the nose and ears. The symptoms are triggered by cold and/or emotional stress (Freedman & Ianni, 1983) and are characterized by blanching followed by cyanosis and rubor.

Although the etiology of Raynaud's disease is unknown, two major theories have attempted to explain it. Raynaud (1888) felt that sympathetic nervous system hyperactivity caused an increased vasoconstrictor response to cold, while Lewis (1929) hypothesized a "local fault" in which small peripheral blood vessels were oversensitive to local cooling.

Data regarding Raynaud's hypothesis have been inconsistent. Peacock (1959) found that the average hand blood flow of Raynaud's disease patients was abnormally low during baseline conditions but rose to normal levels after sympathetic release by body warming. However, the failure of others (Fagius & Blumberg, 1985) to find increased sympathetic vasoconstriction to reflexive cooling provides substantial evidence against this theory. Peacock (1959) also found increased levels of circulating catecholamines in Raynaud's disease patients, which he interpreted as evidence of increased sympathetic activity. However, these findings were not replicated in several other studies of patients with Raynaud's disease or Raynaud's phenomenon secondary to scleroderma (Sapira, et. al. 1972; Surwit et. al., 1983).

Behavioral treatment of Raynaud's Disease

Given the vasoconstrictive nature of the symptoms of Raynaud's disease and the ability of normal subjects to learn to increase peripheral blood flow using behavioural techniques, it was logical to employ behavioral procedures in the treatment of this disorder. The first investigations in this area were single-case studies. Using blood volume feedback from the big toe, Shapiro and Schwartz (1972) produced complete relief of Raynaud's disease symptoms for one year in one patient using 10 training sessions. A second patient terminated treatment prematurely and should neither control of blood flow nor amelioration of Symptoms. Surwit (1973) treated a patient with severe Raynaud's disease with over 50 sessions of finger temperature feedback. The patient was able to increase her average basal skin temperature from 23° C to 26.6° C with partial symptom

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

relief. Jacobson, et al. (1973) treated a patient who was refractory to drug treatment sessions. the patient was able to increase his finger temperature 4.3° C with substantial symptom relief that was maintained at a 7-1/2 month follow-up. In a well-controlled single-case study, Blanchard and Haynes (1975) showed an advantage of feedback over nonfeedback training session for control of finger temperature. The patient was able to consistently increase her hand temperature at least 1° C and experienced substantial symptom relief that persisted at 2,4 and 7-month follow-ups.

In the first controlled study of behavioral treatments for Raynaud's disease (Surwit, et al, 1978), 30 patients were randomly assigned to receive either autogenic training alone or in combination with temperature feedback. Half the subjects in each group received twelve 45-minute laboratory training sessions while half received home training and three instructional group meetings. In addition, for a one-month period, half the subjects served as a waiting-list control group for the other half and then received treatment. All subjects were instructed in a response generalization technique in which they practised hand warming many times each day using visual aids as reminders. Subjects as a whole showed significant improvement in response to a cold stress test and reported fewer attacks after treatment. However, the decline in symptom frequency reported by treated subjects (32%) did not differ sifinificantly from that reported by the wating list controls (10%). There were no significant differences between subjects who received autogenie training alone and those who also received biofeedback or between subjects trained at home and those trained in the laboratory. Also, subjects' heart ratet were significantly higher during the posttreatment cold stress test than during the pretreatment test. One year later the cold stress responses of 19 follow-up subjects returned to pretreatment levels, although reported symptom frequency remained improved (Keefe et al, 1979). In a subsequent study (Keefe et al, 1980) of 21 patients, no outcome differences were found among those receiving progressive relaxation, autogenic training, or a combination of autogenic training and temperature feedback; patients as a whole showed significant improvements in response to the cold stress test and in reported symptom frequency. All patients were treated at home in that study.

Jacobson et al, (1979) treated 12 Raynaud's disease patients with 12 brief sessions of progressive relaxation alone or in combination with temperature feedback. Patients generally showed temperature elevations during training and rated themselves as improved, howe-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ver, there were no outcome differences between the two groups.

Freedman et al (1981) gave 56 minute training of finger temperature feedback to 6 patients with Raynand's disease and 4 with Renaud's phenomenon. Patients showed significant reduction in symptom frequency, which correlated significantly with increased respiration rate, skin conductance level and frontalis EMG activity.

Mishra et al (1993) the present anther also observed similar changes in the 8 patients suffering from Raymand's disease after autosuggestion training associated with Praksha Meditation in whom there was significant reduction in symptom freguency.

Freedman et al 1983 also tested the relative efficacy of standard temperature feedback and temperature feedback under cold stress in a controlled manner. During training, subjects receiving temperature feedback, (TEMP) or temperature feedback under cold stress (TEMPCS) showed significant increases (0.60° C) in finger temperature, whereas those receiving EMG feedback or autogenic instructions did not. EMG and autogenic subjects showed significant declines in muscles tension and reported stress and nonsignificant declines in heart rate, whereas the other groups did not. During posttraining cold stress and voluntary control tests, the temperature elevations of the TEMP subjects were superior to those of the other three groups.

Conclusion

Replicated, controlled investigations have demonstrated that normal persons and those with idiopathic Raynaud's disease can significantly increase finger temperature and blood flow using temperature biofeedback. This effect occurs early in the training process and can be sustained after the removal of feedback. In Raynaud's disease patients vasodilation occurs in the finger capillary bed, as demonstrated by radioisotope clearanc studies. This patients report declines in symptom frequency from 67% to 92%, which persist for at least 2 to 3 years following treatment. Comparable improvements are not reported by patients given autogenic training.

Feedback-induced vasoconstriction is mediated through sympathetic nervous pathway. In normal subjects we showed that feedback-induced vasoconstriction was found abolished by selective digital nerve blockade but maintained in intact fingers. Thus, feedback-induced vasodilation and vasoconstriction are mediated through fundamentally different physiological mechanisms.

There are many remaing question in the search for a complete understanding of the mechanisms underlying temperature biofeedback, such as the ligand producing digital vasodilation and the congnitive and brain mechanisms involved.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

References :

* The experiments related with this article ware carried out in collaboration with Dr. B.K. Chhajer, Asstt. Prof. of Physiology, A.I.I.M.S., New Delhi.

1. Blanchard, E B, and Haynes M (1975). Biofeed back treatment of a case of Raynaud's discase. Jaurnel of Beh Ther. and Exp. Psychiatry 6, 230-34.
2. Coffman J. D, (1972) Total and nutritional blood flow in the finger, Clin. Science, 42, 243-250.
3. Cohen R & coffman J (1981). Beta-adrenergic vasodilator mechanism in the finger, Circulation Research, 49; 1196-1201.
4. Fagius, J. & Blumberg H (1985) Sympathetic out flow to the hand in patients with Raynaud's phenonenon. Cardiovascular Research 19, 249-253.
5. Freedman RR & Ianni P (1983a) Role of cold and emotional stress in Raynaud's disease and Scleroderma. British Med. Journal, 287, 1499-1502.
6. Freedman RR & Ianni P (1983 b). Self-control of digital temperature. Physiological factors and transfer effects. Psychophysiology, 20, 682-688
7. Jacobson, A, Hackett T, Surman O & Silverberg E (1973). Raynaud's phenomenon : Treatment with hypnotic and operant techniques. Journal of the Am. Med. Association, 225, 739-740.
8. Jacobson A, Manschreck T & Silverberg E (1979). Behavioral treatment for Raynaud's disease : A comparative Study with long-term follow up. Am. Journ. of Psychiatry 137, 944, 846.
9. Keefe F (1975) conditioning changes in differential skin temperature. Perceptual and Motor skills, 40, 283-288.
10. Keefe F (1978). Biofeed back Vs instructional control of skin temperature. Journal of Beh. Med 1-323-335.
11. Keefe F & Gardner E (1979) Learned control of skin temperature : Effects of short and long-term biofeedback training. Behavior Therapy, 10, 202-210.
12. Keefe F, Surwit R & pilon R. (1980). Biofeedback, autogenic training and progressive relaxation in the treatment of Raynaud's disease : A comparative study. Journal of Applied Behavior Analysis 10, 3-11.
13. Kluger M & Tursky B (1982). A strategy for improving finger temperature biofeedback training. Psychophysiology, 19,329 (Abstact).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

14. Lewis T (1929). Experiments relating to the peripheral mechanism involved in spasmodic arrest of circulation in the fingers, a variety of Raynaud's disease. Heart 15, 7-101
15. Peacock J. (1959a). A comperative study of the digital cutaneous temperatures and hand blood flows in the normal hand, primary Raynaud's disease and primary acrocyanosis, Clinical Science, 8, 25-33.
16. Raynaud, M (1888). New research on the nature and treatment of local asphyxia of the extremities (T. Barlow, Trans). London : The New Sydenham Society.
17. Sapira J, Rodnon G, scheib E, klaniecki T, & Rizk M (1972). Studies of endogenous catecholamines inpatients with Raynaud's phenomenon secondary to progressive Systemic sclerosis. Am. Joun. of Med. 52, 330-337.
18. Shapiro D, & Schwarts GE (1972) Biofeedback and visceral learning : clinical applications. Seminars in Psychiatry, 4, 171-184.
19. Sheperd J T (1963) Physiology of the circulation in human limbs in health and disease. Philadelphia : Sauders.
20. Stoffer G R, Jensen J.A.S. & Nesset B L (1979) Effects of contigent versus yoked temprrature feed back on voluntary temperature control and cold stress tolerance. Biofeed back and Self-Regulation, 4, 51-61
21. Surwit R (1973), Biofeed back : A possible treatment for Raynaud's disease. Seminars in Psychiatry, 5, 483-489
22. Surwit R, Allen L, Gilger R, Schanberg S, kuhn C, & Duvic M, (1983). Neuro-endocrine. response to cold in Raynaud's Syndorome. Life Science 32, 995-1000.
23. Surwit R, Pilon R & Fenton C (1978) Behavioral treatment of Raynaud's disease, Journal of Beharioral Med. 1. 323-335.
24. Surwit R. S., Shapiro D, & Feld J. L (1976). Digital temperature auto regulation and associated cardiovascular changes, Psychophysiology, 13, 242-248.
25. Taub E & Emurian C S (1976). Feed back aided Self-regulation of skin temperature with a single feed back locus, Biofeed back and self-Regulation 1, 147-168.
26. Vanhoutte P M (1980) Physical factors of regulation, In : D. Bohr A. Somylo and H sparks (Eds), Hand book of Physiology, Vol II. Baltimore : American physiological Society.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

DHARMA KATHĀS IN PALI AND PRAKRIT

● *G.V. Tagare*

Narratives are expressed in or through various media—verbal or literary and non-verbal such as dancing, painting, music, sculpture. But fundamentally narratives express a Teller-Listener relation which later was transferred to writer-reader relation. But narration is intrinsically a social urge in man. So is the urge to listen In fact Teller-Listener relation represents two sides of the same coin-here Narration.

In India, the oldest recorded narrative literature are the *Saṁvāda Sūktas* in the Ṛg Veda, such as those of Pururavas and Urvaśī (RV. X. 95), Yama and Yamī (RV. X. 10), the Sūrya Sūkta (RV. X. 5) to mention a few. These dialogues are the end parts of the relevant legend which is presumed to be in prose and is believed to have been lost during transmission. This presumption appears to be correct as we meet with the legend of Pururavas and that of Śunaḥśepa in the Śatapatha and Aitareya Brāhmaṇas respectively. Such legends appear in Upaniṣads and the Mahābhārata also. But here I limit myself to Pali and Prakrit only.

Stories in ancient India were classified according to *Puruṣārthas* such as Dharma Kathās, Artha Kathās, Kāma Kathās and a mixture of these. It is the motive or the object of the story which determined its category. Thus the stories told with a religious motive by Buddha or Lord Mahāvīra are Dharma Kathās. Thus we have a number of Dharma Kathās in Pali and Prakrits. But all ancient stories are not Dharma Kathās. Sanskrit Kathās about the Pralaya, Creation of the Night or mountains with wings and beast fables in Brāhmaṇa texts are not Dharma Kathās, so in Pali, many Jātaka tales. As I have shown in my *History of Pali Literature* many Jātaka stories are pre-Buddhist and are of a secular nature. So are many stories in *Avadāna* and Pali Aṭṭha-kathās though their motive is religious.

In Pali there is a special category of Dharma Kathās of abiding interest viz. autobiographical Dharma Kathās.

Autobiographical Dharma Kathās

Though there are many autobiographical Dhrma Kathās in Pali I take here the THERĪ GĀTHĀ as an illustration. As every Therī (Sthavirā) aspires after Mokṣa, it is a Dharma Kathā and as the form

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of expression is autobiographical, these are termed as 'auto-biographical Dharma Kathās.'

These Bauddha Dharma Kathās shed important light on the pitiable condition of women in that period. There is no prose introduction to these Gāthās but there are groups of Gāthās which constitute the story or the ballad. The Therīs represent a cross section of the society of that period. There are ladies of the royal families of Magadha and Kosala like Kṣamā, Sumanā, and Śailā. Ladies from the Śākya and Licchavi nobility like Mahā Prajāpatī Gotamī (Buddha's foster Mother), Sundarī, Nandā; Brahmin ladies like Rohiṇī, Śubhā and Bhadrā. Ladies from Vaiśya community like Citrā, Śyāmā, Paṭācārā and Sujātā and Gaṇikās like Āmrapālī and Vimalā.

Paramattha-dīpanī a commentary on the *Therī Gāthā* records the following as the reasons of renouncing the world by these Therīs :

(1) Persecution at home : as in the case of Muktā, Guptā and Śubhā.

(2) Bereavement from their near relatives like husband, brother or parents : as in the case of Kisā Gotamī, Paṭācārā.

(3) Cruel and deceitful treatment from their husband : as in the case of Isidāsī, Bhadrā, Kuṇḍalakeśā,

(4) Emulation of the example of their relatives.

(5) Most women renounced the worldly life due to their implicit faith in Lord Buddha.

(1) The tales of these Therīs are heart-rending. For example, Paṭācārā lies on the street in labour-pains. Her husband dies. She gives birth to a dead child. She returns for shelter to her father's house only to find that her father, mother and brother are being burnt on the same funeral pyre. Then Paṭācārā takes to *Āryа aṣṭāṅga Mārga* and gets solace in life. (Therī Gāthā 5.12.122-126)

(2) Theri Canda tells (Therī Gāthā 10.1.216-222) :

"I was a childless widow. I was not given any shelter by my relatives. With a stick and a begging bowl, I was going from door to door bearing the schorching heat of the sun and blistering cold in winter. I spent seven years in such miserble condition when one day the merciful Paṭācārā gave me food and water. She initiated me and introduced me to the sacred order.

How valuable was her advice. Now I have three lores and have perfect peace of mind."

(3) One of the best poetic passages in Pali poetry, is the song of Āmrapālī, the famous beauty of Buddha's time. She contrasts her youthful appearnce with that in her old age :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"My braids of hair which was black like black-bees and was beautified with fragrant flowers, has become gray, dry and stinking. The words of the Truthspeaker (Buddha) cannot be otherwise.

'सच्चावादि-वचनं अनञ्ञथा' is the burden of that song.

2. My eyes which were bright and beautiful like sapphires are now pale. The words of the Truth-speaker etc. (the burden of the song).

There are 522 Gāthās in the Therī Gāthā divided into 16 sections. They cannot be summarised here. The above specimens are enough to show that the Therīs drank poison (like experiences) in their life, but got peace of mind in the teaching of Buddha and, in their turn, they gave nectar-like solace to those who sought shelter in them.

DHARMA KATHĀS IN PRAKRIT

Jains classified their story-literature on the basis of *Puruṣārthas* viz. Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa. As the *Dasaveyāliya Sutta* (Gāthā 188) puts it :

अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा चेव मीसिया कहा ।

Here "Mīsiyā" means 'of a mixed nature' such as Kāma Kathā with Dharma Kathā etc.

Haribhadra, in *Samarāicca Kahā* (p. 2) endorses the above classification as follows :

एत्थ चत्तारि कहाओ हवन्ति । तं जहा—अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा, संकिण्णा कहा च ।

The term "Saṅkiṇṇā" denotes the mixture of the above categories.

It was probably due to the keen desire of Jain Ācāryas to keep their fold interested in observing their religious practices or Vratas like Non-violence, Truth etc of Jñana-Pañcamī. They were good psychologists and masters of the art of story-telling. Hence in stead of dry Dharma Kathās, they freely mixed the element of romanticism which appeals to common people, taking care that their ultimate object is to attract the masses to Jainism, Thus in Dharma Kathās we find beautiful description of *Vasantotsava* (Spring Festival) where golden lads and ladies mixed freely made love, and enjoyed life—a life that was impossible to enjoy in those days of early marriages and restrictions of the family and society. It was an escape from the dry dreary life to read or hear of *Madanotsava* wherein human beings and divine beings freely mixed together and even ordinary men and women fell in love at the first sight, got love-fever for subsiding which sandal paste and other cooling remedies were used and secret

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

correspondence (many times through nuns who obliged these young lovers).

In case of "Divine-Human Stories" (Divyā-mānuṣī Kathās), the motif was either boon or curse, enabling Gandharvas and divine ladies to mix and marry the humans. There is no need to illustrate as anybody who reads the *Supāsanāha Carita, Kumārapāla Pratibodha* or the stories recorded in commentaries (*Cūrṇis*) on the Agamic texts.

This story literature consisted of stories which were taken from the fund of traditional stories and ballads of non-sectarian nature current in Indian masses from very old times. It was the legacy of Jains, Buddhists and other Indian sects. Jains and Buddhists used this legacy of theirs and gave them a slight sectarian turns at the end. As Dr. Jagadish Chandra writes :

लोक प्रचलित कथाओं तथा ब्राह्मण और बौद्धों के कहानियों को जैन ढांचे में डालकर लक्ष्य की पूर्ति की गई ।

It is not that only Jain authors did it as I have shown in my "History of Pali Literature", Jātaka Tales, Stories in Avadāna texts, legends recorded in Commentaries (Aṭṭhakathā) gave a slight Buddhistic turn to traditional tales to give them some semblance of Buddhism.

This traditional legacy is not limited to narrative literature, Epigrammatic Gāthās forcefully expressing an idea or a piece of advice have also been used by all. For example, the importance of paying respect to elders is enjoined by Manu (2.121) as follows :

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि संप्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

The Dhamma-pada (in Sahassa Vagga) states :

अभिवादन सीलस्स निच्चं वद्धापचायिनो ।
चत्तारो धम्मावड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ॥

It was the social need of the times to keep followers faithfully attached to religion and religious practice or vratas etc. which led the Ācāryas to mix erotic or other miraculous element in the Dharma Kathās. But they always emphasised the adoption or triumph of Dharma at the end of the stories. □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

MEMBERS OF SYLLOGISM

● *Bamadev Senapaty*

The means of right knowledge (Pramāṇas) play an important role in the establishment of the doctrines of various branches of learning. They vary in number from one branch to another. In the branches of Indian thoughts the numbers of Pramāṇas are from one to nine. The Cārvākas accept only one kind of Pramāṇa named perception (Pratyakṣa). The Vaiśeṣikas, Jainas and Bauddhas accept two kinds of Pramāṇas Viz : (1) Perception (Pratyakṣa) and (2) Inference (anumāna). In the Sāmkhya and Yoga systems three kinds of Pramāṇas have been accepted. Viz : (1) Perception (Pratyakṣa) (2) Inference (Anumāna) and (3) Verbal testimony (Śabda). Besides these three the Naiyāyikas accept comparison (Upamāna) as the fourth Pramāṇa. The Mimānsakas accept presumption (arthāpatti) as the fifth Pramāṇa. The Vedantins accept negation or non existence (abhāva) as the Sixth Pramāṇa besides these five. The Paurānikas accept two more Pramāṇas besides these Six. They are probability (Sambhava) and rumour (aitihya). So according to them there are eight kinds of Pramāṇas. The Ālaṅkārikas accept bodily movement or gestures (Cesta) as the ninth Pramāṇa. So according to the Various branches of Indian thoughts there are nine kinds of Pramāṇas in maximum.[1]

Among all these nine kinds of Pramāṇas inference (anumāna) is widely discussed by the Indian logicians. Inference (anumāna) is the knowledge of objects not through perception but through the apprehension of some mark (liṅga) which is invariably related to the inferred objects (Sādhya). The invariable relation between these two is called Vyāpti. In inference there are at least three propositions and at most three terms Viz : the pakṣa or minor term about which we infer something, the Sādhya or major term which is the inferred object, and the liṅga or Sādhana or middle term which is invariably related to the major and is present in the minor. To illustrate. "The hill is fiery, because it smokes, and whatever smokes is fiery.

Inference (anumāna) is of two kinds Viz : (1) Inference for one's self (Svārthānumānam) (2) Inference for the sake of others (Parārthānumānam)[2]. When a person having inferred fire form smoke, demonstrates it to others by the employment of syllogism, it is called

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

an inference for the sake of others (Parārthānumānam).[3] Syllogism (Nyāya) is the name for a collection of five sentences which give rise to knowledge that produces consideration. These five sentences are called as members of syllogism.

The five members of syllogism are (1) Proposition (Pratijña) (2) the reason (hetu) (3) the explanatory example (udāharaṇam) (4) the application (Upanaya) and (5) the statement of conclusion (nigamanam).[4]

The process of this five membered syllogism is as follows :—

1) This hill is fiery (Proposition),
2) Because it is smoky (the reason)
3) All that is smoky is fiery as is a kitchen (Explanatory example).
4) This hill contains smoke that is invariably concomitant with fire (the application).
5) Therefore this hill is fiery (Statement of conclusion)

(1) A proposition is the statement of what is to be proved e.g, the hill is fiery. (2) A reason is the means for proving what is to be proved through an example. In the present case the reason is being possessed of smoke. Here smoke is the reason. (3) An example is a familiar instance which is known to possess the property to be proved and which implies that this property is invariably contained in the reason given i.e. whatever is smoky is fiery as a kitchen. (4) Application is the winding up, with reference to the example, of what is to be proved as being so, e.g. So is this hill (Smoky), (5) Conclusion is the restatement of the proposition after the reason has been mentioned. It is the confirmation of the proposition after the reason and the example have been mentioned. Therefore the hill is fiery.

After these five sentences have been employed there arises in the mind of the listener consideration of the form "this hill is possessed of smoke, which has invariable concomitance with fire [5] Syllogism is therefore the name for the entire collection of these five sentences, each of which is called a member

The number of members of syllogism is the most controversial one. Controversial in the sense that there are at least five main streams of thoughts from five prominent schools of philosophy combatting with each other. On one side stands the Naiyāyika according to whom the syllogism consists of five members.[6] On the other side we have Vedāntins, Mimānsakas, Buddhists and Jainas who have given different views about the number of members of syllogism. The views of the various philosophers are as follows :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1) *Nāgārjuna* the Buddhist philosopher in his book Upāyakausalya Sūtra, says that a conclusion can be established through a reason and an example (Udāharaṇa) which may be either affirmative or negative. A syllogism according to him consists of three members and not of five, the last two members application and conclusion being superfluous.

In his book, Nyāya Praveśa, Diṅgnāga mention only three members of the syllogism, though the third states both an affirmative and a negative example, e.g. this hill is on fire because it has smoke, all that has smoke, has fire, like a kitchen and whatever has no fire has no smoke, like a lake. In Diṅgnāga the third factor is a general law with suggestive illustration.

2) The *Saugatas* (Buddhists) are said to maintain that a syllogism consisis of only two parts, Viz : an example and an application in the following form.

(i) All that is smoky is fiery, as a kitchen.

(ii) This hill is smoky.

3) The Jaina Philosopher, *Māṇikyanandi* and *Devasuri* admit three membered syllogism of Nāgārjuna and Diṅgnāga, Bhadrabāhu another Jaina logician, in his book Dasavaikālikaniryukti mentions that a syllogism consists of ten members. They are (1) Proposition (Pratijñā), (2) Limitation of proposition (Pratijñā Vibhakti), (3) The reason (het)u, (4) The limitation of reason (hetu Vibhakti), (5) Counter proposition (Vipakṣa), (6) The denial of the counter proposition (Vipakṣa Pratisedha), (7) Example (dṛṣṭānta), (8) Doubt about the validity of the example (Ākāṅkṣā), (9) The dispelling of the doubt (ākāṅkṣā pratiṣedha) and (10) Conclusion (nigamana).

4) The advaitins admit the distinction between inference for one's sake (Svārthānumāna) and inference for the sake of others (Parārthānumāna). According to them the latter has three members which may be either proposition, reason and example or example, application and conclusion. Vedānta-paribhāṣā allows the use of the first three or the last three of the Naiyāyikas five membered syllogism.[7] Rāmānuja also admits the three members of syllogism of Vedānta-Paribhāṣā.

5) *Varadarāja* in his book Tārkikarakṣā says that according to Mimānsaka a syllogism which consists of three parts may either begin with an example or end with the same as follows :

1) All that is smoky is fiery as a kitchen.

2) The hill is smoky.

3) Therefore the hill is Fiery. OR

1) The hill is Fiery.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2) Because it is smoky.

3) All that is smoky is firy as a kitchen.[8]

6) Vātsyāyana in his Nyāya-bhāśya (1.1,39) refutes the three-membered syllogism of Nāgārjuna and answers as follows :—

The application (Upanaya) and the conclusion (nigamana) are essential parts of a syllogism in-as-much as they serve on the strength of the general principle involved in the example to confirm the reason and reassert decisively the proposition which, when first advanced, was of a doubtful character.[9]

Vātsyāyana in his Nyāyābhāşya (1.1.32) points out that some logicians regarded the syllogism as consiting of ten members. In addition to five of the Naiyāyikas the following are included :—

1) The desire to know the exact truth of the proposition (jijñāsā) whether the hill is on fire in all its parts or in only some, (2) doubt the reason (saṁśaya) whether after all that which we regard as amoke is only vapour, (3) Capacity of the example to warrant the convicion (Śakyaprāpti) whether smoke is always a concomitant of fire, since, it is not present in a red-hot iron; (4) purpose for drawing the conclusion (Prayojana); (5) dispelling all duellions (Saṁśaya-Vyudāsa).[10]

The five additional members of the syllogism serve no doubt to make our cognition clear, but they do not prove anything, Hence they cannot, according to Vātsyāyana, be regarded as essential members or parts of a syllogism. They have in view the psychological point of all knowledge, but as Udyotakara observes it is not an integral factor of reesoning or proof.

7) Siddhasena Divākara reduces the syllogism to five members in his Nyāyāvatāra, Anantavīrya says that the best form of the syllogism has ten members, the mediocre of five and the worst of two.

8) *Bhāsarvajña* in his book Nyāyasāra has pointed out that the syllogism consists of five members.[11]

Gautama the author of Nyāyasūtra and in the same line Gangeśopādhyāya has also mentioned five members of a syllogism. *Gangeśa* has devoted a full chapter named "Avayava Prakaraṇam" in his Tattvachintāmaṇi.

Both *Vātsyāyana* and *Udyotakara* argue against the attempt to dispense with the last two members of the syllogism. They admit that the first member of the syllogism is restated in the conclusion while the fourth is a combination of second and the third. Though they are unnecessary from the standpoint of logic they are useful for the purpose of debate since they confirm the reason and reassert decisively the proposition tentatively set forth in the first member. A

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

distinction was drawn between the five membered syllogism, useful for convincing others (Parārthānumāna) and the three membered one, sifficient for convincing one self (Svārthānumāna). The latter deals with inference as a process of movement of thought and so belongs to the science of discovery while the former deals with proof. *Gautama* and *Kaṇāda* do not explicitly mention it, though later logicians admit it *Praśastapāda* distinguishes inference for oneself (Svārthānumāna) from inference for others (Parārthānumāna). Inference for the sake of others is rather a formal exposition. We see a hill and are in a doubt whether it has fire or not. Noticing smoke we remember the connection between fire and smoke and conclude that there must be fire on the hill. When we attempt to convey this information to others we use the five membered syllogism.

NOTES

१. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ तथा ।
अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दं च ते अपि ॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन ।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः ।
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टवेदान्तिनस्तथा ।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिकाः जगुः ।
चेष्टानंकारिकैस्तेषु प्रमाणेषु निगद्यते ॥

२. तच्चानुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं चेति ॥ (तर्कभाषा)

३. यस्तु कश्चिद् धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं
पञ्चावयवबाक्यं प्रयुंक्ते तत्परार्थानुमानम् ॥ (तर्कभाषा)

४. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ (न्यायसूत्रम्—१.१.३२)

५. वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः ॥ (तर्कसंग्रहः)

६. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ (न्यायसूत्रम्—१.१.३२)

७. अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः—प्रतिज्ञाहेतूदाहररूपा, उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा, न तु पञ्चावयवरूपाः ॥ वेदान्तपरिभाषा (अनुमानपरिच्छेदः)

८. त्रीनुदाहरणान्तान् वा यद्वोदाहरणादिकान् ।
मीमांसकाः सौगतास्तु सोपनीतिमुदाहृतम् ॥ (तार्किकरक्षा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. उपनयञ्चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो नार्थं साधयेत् । निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तन तथेति प्रतिपादनं कस्येति । .....न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जाति निग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते । अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्य-साधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते । व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्य-साधनभावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वेनोपादानं न साधर्म्य मात्रस्य न वैधर्म्यमात्रस्य वेति ॥ (न्यायभाष्यम् —१.१.३१)

१०. दशावयवानेके वाक्ये सञ्चक्षते—जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः. प्रयोजनं, संशय-व्युदास इति ॥ (न्यायभाष्यम्—१.१.३२)

११. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥

न्यायसारः (परार्थानुमाननिरूपणम्)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Book Review

1. A Treasury of Jain Tales—Prof. V. M. Kulakarni, Published by Shardaben Chimanbhai Educational Research Centre, Ahmedabad-380004, First Edition, March 1994, Price : 200/-

The Jain narrative literature is very rich and extensive. It is poorly known and what is available in English is very meagre. Examples of ancient legendary heros have often been used by the Jain seers and teachers for illustrating effectively the hard path of their monastic life, and the abstract philosophical ideas of their faith.

Particularly the narrative literature of the Śwetambaras is veritable storehouse of folk tales, fairy-tales, beast-fables, parables, apologues, allegories, legends, funny stories and anecdotes. A large number of such tales, parables and legends occur in the Canon itself, while a number of illustrative examples are found in the commentaries on the Canon.

The Jain monks were very shrewd and practical-minded. They exploited the Indian people's inborn love for stories for propagation of their religious faith. However these narratives are very precious as they go beyond the kings and the priests and give a picture of the real life of the Indian people in all the different walks of life.

The present edition of Jain Tales which is the first in a series of at least three such volumes, as Prof. Kulkarni says in his Preface to this publication—*A Treasury of Jain Tales* ie. Shree Shwetambar Murti-Pujak Jain Boarding (Ahmedabad) Series Vol. 5. It is a fine collection of the stories derived from Jain Canonical leterature and commentaries by Dr. J. C. Jain, Dr. P. N. Upadhye, Prof. R. P. Nipanikar, Prof. S. T. Nimkar, Dr. (Mrs.) Nirmala Chheda and Prof G. S. Bedagkar under the able guidance of Prof. Kulkarni, which, no doubt can be looked upon as another gem in the crown of his scholarly achievements.

Many of the stories, here are based on the typical Indian metaphysics of which *karma* is the *sine quanon*. Every such story spreads over an enormous time span that easily covers a couple of life times, and relies on Rebirth. The story of the 12th voyage of Mākandi Bros, can easily find place in the voyage literature of the world. Like Homer's Odysseus the two brothers meet a merciless circle and in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

spite of fabulous Arabian Night's atmosphere, get involved in a terribly haunting scene of temptation. This story should find a worthy place by the side of Haklyut's voyages and many other Spanish and Italian stories.

The story of Mūladeva and courtesan Devadatta is equally secular and human. The whole lot of humanity has crowded up in this panorama of life and the Indian story literature has tried to capture for us the kaleidoscopic and elusive beauty that we call human nature. On going through the stories one can easily get a glimpse into our rich cultural past.

2. On Rahanemi (Chapter XXII of the Uttarādhyana Sūtra)—Editor, Dr. B K. Khadabadi, Publisher—Prakrit Bharati Academy, 3826, Yati Shyamlalji Ka Upasara, Jaipur—302003, First Edition—1993, Price : Rs. 20/-

This is a short narrated story of Bhagawan Neminath, his wife Rajimati and his brother Rathanemi. It deals a subtle but intense blow at human lust and contains a vital message for mankind at all levels of intellectual development.

Starting with introduction of Neminath it gathers momentum as it covers the turning points in his and Rajimati's life. It comes to an exploding conclusion with the episode of neutralisation of Rathanemi's lust by Rajimati's preaching in the last seven verses (of the composition in a short space of 49 verses).

It is intersting to note that Dr, Khadabadi was here, at Ladnun during October, 1980 and at that time Shriman Shrichand Rampuria (Our Present Honourable Chancellor) proposed and exhorted to him to bring out on English edition of the Uttarādhyayana-Sūtra, as based on the already critically edited Hindi Edition by Muni Sri Mahāprajya (the present Acharya of Terapanth Sect.). And now, after thirteen years, he brought out this ***Rahanemijjam***, the 22nd chapter of ***Uttarādhyanan-Sūtra***, which is, no doubt, a piece of most important Jaina religio-historical narration. We hope, Dr. Khadabadi will think again to bring out an English edition of the whole of Uttarādhyayana-Sūtra, as he had agreed upon to do during his stay at Ladnun in A. D. 1980.

This small booklet ***On Rahanemi***, with text, transliteration, translation in English in free quartain, in Hindi verse and Hindi prose with critical notes, is very useful for the scholars and is all the more significant for the readers in prevailing conditions of disintegrating social and moral values.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. Jainism and Mahāvīra—Dr. Bhag chandra 'Bhaskar', Published by Shekarchand Jain, Shri Digamber Jain Sahitya Sanskriti Samrakhshan Samiti, D-302, Vevek Vihar, Delhi-110095, First Edition, 1993, Price Rs. 30/-

Dr. Bhagchandra 'Bhaskar', Professor and Head of the Department of Pali and Prakrit, Nagpur University has to his credit a number of publications, both in Hindi and English. He is a distinguished scholar in the field of Jainology and had, had published 'Jainism & Buddhism', 'Jainism in Buddhist literature'; 'A survey of Prakrit Literature, 'Jain aur Bauddha Darshan ka Tulanatmaka Addhyayan' and 'Jain Darshan aur Sanskritika Itihasa etc. and now he has come forward with his newly published book i.e. '*Jainism and Mahāvira*.

The book consists of two chapters, one on Jainism and the other one on Mahāvīra. Dr. Jain has dealt herewith the historical and cultural back ground of Jainism with a comparative perspective. The contents of the first chapter are History, scets & schools, scriptures, Rites & Rituals, Jain as a community, spread of Jainism and Jaina Philosophy & Psychology, Theory of Anekānt, Dravya or Tattvas, Karma theory, classification of knowledge, Jain Ethics and Spirituality and Jain Mendicant. There he made it abundantly clear that Jainism has been vigil constantly and unforgetably to the field of history and culture. Its philosophy, ethics, dogmas, spiritual disciplines and practices are based on truth and non-violence with the nature of humanistic approach, interreligious dialogue and understanding which can be easily perceived through its extensive and perennial litreture.

Similarlly the chapter on Manāvīra also takes into consideration all the researches made so far and the author's analysis of Mahāvīra's teaching, religion, philosophy, Psychology, spirituality, discipline practices, is based on Pali literature and then supported by Prakrit and Sanskrit Jaina literature. As for example Radiments of *Anekānta* are traceable in the Buddhist approach to questions where the Buddha used the words *Ekaṁsa, Anekaṁsa, Thapaniya, Vibhajj, avyakaraniya* etc. corresponding to *Anekāntavād.*

Dr. Jain concluded here that Mahāvīra and the Bnddha never met personally each other, though their disciples discussed the matter so many times.

However he has accepted the orthodox Jain tradition which dated the death of Mahāvīra in 527 B. C. and not accepted in toto, the date of Mahāvīra's death as 1761 B. C., propagated and established in *The Mahāvīra Era* by Dr. P. Solanki.

—PARMESHWAR SOLANKI

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Registration Nos. : { Postal Department : NUR-08
Registrar of Newspapers for India : 28340/75

Vol. XX TULSĪ-PRAJÑĀ 1994-95

Annual Subs. Rs. 60/- Life Membership Rs. 600/-

प्रकाशक-संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलंकी द्वारा जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं (भारत)-341306
में मुद्रित कराके प्रकाशित किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org